गांधी दर्शन और शिक्षा

डॉ० राजानन्द

शिक्षा विभाग, राजस्थान
के लिए

सूर्य प्रकाशन मन्दिर
बीकानेर

आमुख

शिक्षा विभाग, राजस्थान, बीकानेर द्वारा, प्रतिवर्ष शिक्षक दिवस के अवसर पर राजस्थान के सृजनशील शिक्षक-लेखकों की विविध साहित्यिक कृतियो का प्रकाशन किया जाता है। इस योजना के अंतर्गत अब तक कुल तेरह पुस्तको का प्रकाशन किया जा चुका है जिनमे हिंदी, उर्दू तथा राजस्थानी भाषा की कृतियाँ सम्मिलित है।

इस समय गांधी शताब्दी के उपलक्ष्य मे विभाग द्वारा दो पुस्तकों का प्रकाशन किया जा रहा है जिनमें से एक यह प्रस्तुत पुस्तक है। राष्ट्रपिता गांधीजी भारत की आत्मा के प्रतीक बन चुके हैं। हम उन्हें पूरी तरह समझ सकें, उनके विचारो तथा जीवन-कर्म को स्मरण करते हुए अपने आचरण को शुद्ध तथा उन्नत कर सकें इस दृष्टि से ही इन पुस्तको का प्रकाशन किया जा रहा है। आशा है पाठकों को ये पुस्तकें प्रिय तथा उपयोगी प्रतीत होंगी।

सन्तोष और प्रसन्नता इस बात की है कि राजस्थान के सृजनशील शिक्षक अपने साहित्य-कर्म की ओर पूर्ण सजगता से प्रवृत्त हैं। विभाग का उद्देश्य उन्हें यथासंभव प्रोत्साहन तथा प्रेरणा देना है। इसके अतिरिक्त राजस्थान के प्रकाशक भी विभाग को अपना हार्दिक सहयोग प्रदान कर रहे हैं। इसके लिए ये प्रकाशक बन्धु तथा सृजनशील शिक्षक-गण दोनो ही साधुवाद के पात्र हैं।

गांधी शताब्दी
२ अक्टूबर, १९६९

हरि मोहन माथुर
निदेशक,
प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा,
बीकानेर

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः।

—अथर्ववेद

(मैं अपनी मातृभूमि के वास्ते तथा उसके दुःखों के विमोचन के लिए हर तरह के कष्ट सहने को तत्पर हूँ—वे कष्ट चाहे जिस तरफ से आवें, चाहे जिस वक्त आवें, मुझे चिन्ता नहीं है।)

गांधी दर्शन और शिक्षा

व्यक्तित्व

'आने वाली पीढ़ियाँ शायद मुश्किल से ही यह विश्वास कर सकेंगी कि गांधी जैसा हाड़-मास का पुतला कभी इस धरती पर था।' गांधी जी के समकालीन, विश्व-प्रसिद्ध वैज्ञानिक अलबर्ट आइंस्टीन ने गांधी जी के व्यक्तित्व के संदर्भ में उक्त विचार प्रकट किये थे। उन्होंने यह भी कहा कि 'गांधी, इन्सानों में एक चमत्कार था।'

व्यक्तित्व के इस आकलन में न तो अतिशयोक्ति है, न मात्र औपचारिकता। युग की प्रमुख प्रवृत्तियों को देखते हुए उपर्युक्त अभिव्यक्ति की संगति तथा उपयुक्तता स्वयं सिद्ध है। निश्चित रूप से गांधी जी 'इन्सानों में चमत्कार' थे।

जब युग हिंसा, युद्ध, वैमनस्य एवं कूटनीतियों में आकंठ डूबा हो तब गांधी अहिंसा, युद्ध-निरोध, परस्पर प्रेम तथा धर्म-सम्मत राजनीति की बात करता है। युग जब भौतिक सम्पन्नता को सभ्यता तथा संस्कृति की श्रेष्ठतम उपलब्धि घोषित कर रहा हो तब गांधी आत्म-सम्पन्नता तथा आध्यात्मिक श्रेष्ठता को पुनर्स्थापित करने का प्रयास करता है, यह कहकर कि भौतिक सभ्यता दानवीय है, शैतान की है। युग जब औद्योगिक तथा प्रौद्योगिक सफलताओं के प्रतिफलनस्वरूप अपने को व्यापार की लाभ-हानि वाली हिसाबी नैतिकता से जोड़ चुका है, और जोड़ता जा रहा है, तब गांधी उसे सदाचार की नैतिकता का पाठ पढ़ाना चाहता है। यही नहीं, जब साम्यवाद नामक राजनीतिक सम्प्रदाय रक्त-क्रान्ति तथा सामूहिक हिंसा द्वारा समाजवाद तथा समानता लाने को कटिबद्ध है तब गांधी बात करता है सत्याग्रह की, हृदय-परिवर्तन की, सबके उदय की। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने युग की गति के प्रतिकूल चलने की शपथ ले ली है। जैसे उसने हर स्वीकृत मान्यता एवं मूल्य को उल्टा टाँगने का निश्चय कर लिया हो—अटल

... ऐसा सर्वांग, प्राचीनतावादी, अंधविश्वासी व्य...
चमत्कार' लगता है तो आश्चर्य क्या है ? या तो वह...
व्यक्ति है, या वह महान है, भविष्य-दृष्टा है, किन्तु...
'विवेक' है, वह है जरूर सामान्य इन्सानों में 'असामान्...

आने वाली पीढ़ियाँ किस पर विश्वास करेंगी ? ...
पर ? तो गांधी का व्यक्तित्व अविश्वसनीय तथा काल्प...
गढंत । और क्या पता गांधी के जीवन की घटनाएँ—...
उतनी ही सत्य हैं, जितने खुद हम—आने वाली पीढ़ी को...
लगें । लगें, कि सब किवदंतियाँ हैं । और तब, आश्चर्य न...
पैगम्बर, अवतार या बीसवीं सदी का देवता बना दिया...
ऐसी ही की जा रही है । यह विवेकशील शताब्दी की स...
विवेकहीन सफलता होगी ।

आज यदि हम गांधी जी की सफलताओं को, उनके द...
दर्शन को, बिना मेल-मिलावट के, उनके जीवन की घटनाओं से...
तथ्यात्मक विवरणों के रूप में संजो देते हैं तो सम्भव है कि...
पीढ़ियाँ विश्वास करें कि भारतवर्ष ने एक ऐसे युग-पुरुष को...
जिसने सही मूल्यों की स्थापना हेतु अपने जीवन को कुरुक्षेत्र ब...
और दिक्भ्रान्त युग को उसकी सही दिशा दिखाई । तब वह यह...
करेंगी (आने वाली पीढ़ियाँ) कि वही ऐसा सच्चा मनुष्य और...
नैतिक ज्योतिषी था, जिसने भावी विश्व के स्वरूप को पूर्वघोष...
ऐसा भी हो सकता है कि विश्व के शक्तिशाली राष्ट्र फिर तीसरा...
छेड़कर गत को दुबारा दोहरा दें । उस समय भी आने वाली पीढ़ी...
कर गांधी के देय को स्वीकार करेगी कि, बड़े बे-अक्ल थे हमारे...
जिन्होंने एक महान पुरुष की उपेक्षा करके अपनी ही चिता के लिए...
ड़ियाँ सजाईं । अस्तु ।

प्रस्तुत अध्याय में हमारा उद्देश्य है गांधी जी के व्यक्तित्व को स...
का । गांधी जी एक विशिष्ट व्यक्तित्व वाले बने, दूसरी तरह के क्यों...
बन सके, इन कारणों को जानना आवश्यक है । इस प्रकार की जिज्ञा...
रखे बगैर हम उनको सही तौर पर नहीं समझ सकेंगे । हम गांधी जी...
चारित्रिक विकास को इसलिए भी सही परिप्रेक्ष्य में समझना चाहते हैं क...

कि उनका दर्शन उनके जीवन अनुभवों का फलन है।

जवाहरलाल नेहरू ने गाधी जी के बारे मे लिखा है, 'भारत के विषय में गांधी जी के विचार, बचपन में उन्होंने गुजरात मे जो कुछ सीखा उससे भी कुछ हद तक रजित थे। गुजराती समाज मूलतः शान्त स्वभाव वाले व्यापारियों और बनियो का समाज है तथा उस पर जैनधर्म की अहिंसा का प्रभाव है। भारत के अन्य भागों पर इसका बहुत कम प्रभाव पडा और कुछ पर तो बिल्कुल ही नहीं पडा।'[1]

केवल गुजरात मे ही नही, बल्कि अधिकाश दक्षिण मे हम वैष्णव प्रभाव को पाते हैं। पश्चिमी सभ्यता ने यद्यपि सम्पूर्ण भारत को प्रभावित किया, परन्तु दक्षिणी भारत को उनके भारतीय सस्कारों से वह पूरी तरह च्युत नही कर सकी। जवाहरलाल नेहरू जिन वैष्णवी सस्कारों की तरफ इगित करते हैं, वह वास्तव मे गाधी जी मे हमे प्रारम्भ से ही गहराई मे प्रविष्ट हुए मिलते हैं।

गाधी जी का बचपन ऐसे परिवार मे बीता जो काफी हद तक रूढिवादी था। किसी भी वैष्णवी परिवार में तथा उसी वातावरण मे पालन-पोषण पाने वाले बच्चे मे यह जरूरी है कि वैष्णवी सस्कार पड़ें। गाधी जी इसके अपवाद नही थे। वह अपने माता-पिता की भक्ति करते थे। वह माँ के पैर दबाते थे, तथा पिता की सेवा करते थे। यहाँ तक कि उनके पिता, सिवाय उनके, किसी से भी अपनी सेवा नही कराते थे। उनकी बीमारी की दशा मे भी गाधी जी ही उनकी सेवा करते थे और उनके पिता का मोह उनके प्रति भी उतना ही प्रगाढ़ था। गाधी जी ने दिल्ली की यात्रा के समय अपने बेटे रामदास को लिखा : 'बस तुम मेरी ही सेवा मे लगे रहो, इससे तुमको सब कुछ मिल जायेगा।'[2]

पितृ-भक्ति, पितृ-सेवा, मातृ-भक्ति, मातृ-सेवा, गाधी जी के ऐसे गुण थे जिनका वर्णन उन्होने अपनी आत्मकथा मे जगह-जगह किया है। तीसरा गुण सत्य था। सत्य के प्रति उनकी अभिरुचि सहजानवत् थी।

चरित्र की नीव बचपन से ही पड़ती है। गाधी जी जब रामदास को यह शिक्षा देते हैं कि वह बस उनकी सेवा करे, तब उनका अपना जीवन

---

१. जवाहरलाल नेहरू : महात्मा गाधी : एशिया पब्लिशिंग हाउस (१९६६) पृ० १३३-३४

२. गाधी : व्यक्तित्व, विचार और प्रभाव : पृ० ७५

अनुभव सवाक् होता है। किशोर अवस्था या युवा अवस्था में आवेश तथा स्वतन्त्रता की इच्छा प्रबलतम होती है। यही वह आयु है जिसमें ऊर्जा अपने उपयोग का मार्ग खोजती है। यदि यह ऊर्जा रचनात्मक कार्य में अथवा उदात्त उद्देश्य में नहीं लगती है तो स्वघातक अथवा ध्वंसात्मक हो जाती है। इसका दमन विभिन्न प्रकार की कुंठाओं को जन्म देता है। इसका सही उपयोग हो, इसीलिए हमारे यहाँ मातृ-पितृ सेवा तथा गुरु सेवा का विधान स्वीकार किया गया है। यह समर्पण एक तरफ तो किशोर में सेवा भावना को पुष्ट करता है, दूसरे उसको निरंकुश होकर भटकने से बचाता है। सेवा की प्राथमिक शर्त नम्रता है, जो व्यक्तित्व में सौष्ठव लाती है। गांधी जी में सेवा भावना का बीज बचपन में ही पड़ चुका था।

उनके व्यक्तित्व में पिता तथा माता दोनों के गुण स्थान पाते हैं। गांधी जी अपने पिता कर्मचन्द गांधी (काबा गांधी) के चरित्र की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए लिखते हैं : 'वह सत्यवादी, साहसी, दयालु, पर रोष वाले थे। वह अकलुष थे और अपने पक्षपात रहित व्यवहार के कारण परिवार में आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। उनकी रियासत के प्रति ईमानदारी सर्वविदित थी।' दूसरे गुणों का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है, 'मेरे पिता ने धन एकत्रित करने की कभी इच्छा नहीं रखी और हमारे लिए बहुत कम सम्पत्ति छोड़ी।'[1]

यदि यह सही है कि पिता के गुण पुत्र में संस्कार रूप में संक्रमित होते हैं तो गांधी जी में हमें पिता के काफी गुण प्राप्त होते हैं—सत्यवादिता, साहस, दयालुता। पिता के व्यक्तित्व का प्रभाव इन्हें और स्थायी कर देता है।

गांधी जी ने अपनी माता के प्रभाव को भी अति नम्रता तथा कृतार्थ-भाव के साथ स्वीकार किया है। उनकी माँ श्रद्धावान धार्मिक नारी थीं जो प्रार्थना तथा व्रतों में विश्वास रखती थीं। वह वैष्णवी संस्कारों से ओत-प्रोत थीं। गांधी जी लिखते हैं : 'मेरी मां ने मेरी स्मृति में महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला है तो अपनी पवित्रता का। वह गहरे रूप से धार्मिक थीं।'[2]

परिवार तथा माता-पिता द्वारा भी बच्चे को शिक्षण प्राप्त होता है जिसे अविधिक (Informal) शिक्षा-साधन के अन्तर्गत माना गया है।

---

१. द सलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी वॉल्यूम १, पृ० ४
२. वही, पृ० ५

गांधी जी ने इस दृष्टि से वैष्णव संस्कारो को प्राप्त किया । वह अपने परिवार के सम्बन्ध मे लिखते हैं :

मेरे माता-पिता कट्टर वैष्णव थे । वह नियमित रूप से मन्दिर (हवेली) जाया करते थे । यहाँ तक, कि परिवार का स्वयं एक मन्दिर था । जैन धर्म गुजरात मे प्रबल था, उसका प्रभाव हर जगह तथा हर अवसर पर प्राप्त होता था । मासाहार के प्रति घृणा एव विरोध जितना प्रबल गुजरात मे जैन तथा वैष्णवों मे दिखाई देता था उतना भारतवर्ष मे या बाहर कही नही मिलता था । यह वह परम्परा थी जिसमे मैं जन्मा तथा पला ।[1]

निश्चित है कि ऐसे वैष्णवी वातावरण का प्रभाव गाधी पर पड़ना था । वह माता-पिता को इतना प्रेम करते थे कि एक वर्ष तक लुके-छिपे जिस मासाहार को उन्होने चलाया, उसे सिर्फ इस कारण से स्वतः छोड़ दिया कि अगर उनको पता लगा तो वह गहरा आघात महसूस करेंगे ।

यहाँ एक तथ्य हमारे समक्ष और आता है कि श्रद्धा अथवा प्रेम कितना हितकारी परिवर्तन जीवन मे लाता है । गाधी जी के मित्र ने उन्हें मासाहर के पक्ष मे यह तर्क दिया था कि अंग्रेज इसलिए हमारे ऊपर शासन करने के योग्य हैं, क्योकि वह मासाहारी हैं । गाधी जी ने इस तर्क को स्वीकार कर लिया था । मानसिक रूप से मांसाहार के पक्ष मे वह इंग्लैन्ड मे तब तक रहे जब तक कि शाकाहार को 'विश्वास' के रूप मे स्वीकार नही कर लिया । इस समय उन्होने इसलिए मासाहार छोड़ा क्योकि वह माता-पिता को आघात नही पहुँचाना चाहते थे । दूसरे; जब भी वह मासाहार बाहर करते थे तब उन्हें घर आकर माँ से झूठ बोलना पड़ता था कि उनके पाचन मे अव्यवस्था है इसलिए खाना नही खायेंगे । वह अपने मानसिक द्वंद्व तथा उसके पश्चात् निर्णय तक पहुँचने की स्थिति का वर्णन करते हैं :

हालाँकि मास खाना आवश्यक है, और यह भी आवश्यक है कि देश मे भोजन सम्बन्धी सुधार लाया जाये, फिर भी माता-पिता को धोखा देना तथा उनसे झूठ बोलना मास खाने से भी अधिक बुरा है । अतः उनके (माता-पिता के) जीवन काल मे मासाहार का प्रश्न आना ही नही चाहिए। जब वह नही रहेंगे, और मैं स्वतंत्रता प्राप्त कर लूंगा, खुलेआम मास खाऊँगा, पर उस क्षण से पहले. मैं मासाहार से बचूंगा ।[2]

---

१. द सलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाधी, वॉल्यूम १, पृ० २६
२. वही, पृ० ३२-३३

गांधी जी की किशोरावस्था तक की घटनाएँ एक तथ्य को स्पष्ट करती हैं कि सत्यप्रियता तथा वैष्णवी संस्कार के कारण उनकी अंतरात्मा निश्छल थी। आत्मा, जो सत्य से प्रतिबद्ध हो वह दूर तक झूठ को नहीं सह सकती। अंतर्द्वन्द्व की स्थिति ऐसी आत्मा में बहुत भारी दबाव डालती है और विषयी को निर्णय लेने पर बाध्य करती है। यह निर्णय सामान्यतः सही के पक्ष में ही होना है।

इसी मांसाहार के कारण उन्हें पच्चीस रुपये चुकाने थे। इस समय उनकी आयु पन्द्रह वर्ष की थी। उन्होंने अपने मांसाहारी बड़े भाई के बाजूबन्द में से सोने का छोटा-सा टुकड़ा चोरी कर लिया था। कर्ज तो चुका दिया गया पर चोरी के कारण अपराधी अन्तरात्मा ने उनको बेचैन करना शुरू कर दिया। उन्होंने भविष्य में कभी चोरी न करने का स्वतः निर्णय ले लिया, पर इतने से उनकी आत्मा को संतुष्टि नहीं मिली। अंत में उन्होंने अपने पिता को एक चिट पर चोरी की स्वीकृति लिखकर दी। अपने पिता की उस क्षण की अन्तर्वेदना को देखकर गांधी जी स्वयं रो दिये। स्वेच्छा से स्वीकार किये हुए इस अपराध को यद्यपि गांधीजी उस समय किसी बड़े सिद्धान्त से नहीं जोड़ सके, लेकिन उन्हें सत्य की शक्ति का पता अवश्य लगा। उनकी यह स्वीकृति पिता के प्रति अगाध प्रेम से प्रेरित थी, परन्तु परिपक्व आयु में आकर उन्होंने इसे अहिंसा का ही प्रयोग समझा, जिसने पिता के हृदय को स्पर्श किया। वह लिखते हैं: 'कभी न पाप करने के वायदे के साथ, जब उपयुक्त पात्र के समक्ष (जो वास्तव में उसका अधिकारी हो) एक स्वच्छ स्वीकृति की जाती है, तब वह शुद्धतम पश्चात्ताप होता है।'[1]

जीवनानुभव की अनुपस्थिति, अपरिपक्व मस्तिष्क, ईमानदार होते हुए भी कितना गलत पक्ष स्वीकार कर लेना है, और अनजाने में कितना अन्याय करना है यह गांधी जी और उनकी पत्नी कस्तूरबाई के आरम्भिक वैवाहिक सम्बन्ध से ज्ञात होता है।

गांधी जी कस्तूरबाई को अत्यधिक प्रेम करते थे, क्योंकि पति होने के नाते उन्हें एक मात्र उनके प्रति ईमानदार तथा वफादार होना चाहिए था। बाल विवाह होने के कारण दोनों में अपने-अपने प्रकार की स्वतन्त्रता थी। गांधीजी अपनी उस समय की तर्क-विधि को प्रस्तुत करते हुए

---

1 द मैनिफेस्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, वॉल्यूम १, पृ० ३१

लिखते हैं :

मैंने अपने से कहा, 'यदि मैं पत्नी के प्रति वफादार रहने की शपथ लेता हूँ तो उसे भी मेरे प्रति वफादार रहने की शपथ लेनी चाहिए। इस विचार ने मुझे एक ईर्ष्यालु पति बना दिया। उसके कर्त्तव्य मेरे लिए अधिकार मे परिवर्तित हो गये, जिनके माध्यम से मैं वफादारी को प्राप्त करूँ। और अगर इस वफादारी को मुझे प्राप्त करना है तो मुझे अपने अधिकारों के प्रति सतर्कता सहित दृढ़-सकल्पी होना चाहिए। मेरे पास अपनी पत्नी पर सन्देह करने का कोई कारण नहीं था, लेकिन ईर्ष्या कारणों की प्रतीक्षा नहीं करती है।"[1]

प्रेम तथा वफादारी की इस अति की भावना ने कस्तूरबाई पर अन्याय भी करवाया। गाधी जी स्वय स्वीकार करते हैं कि उनके द्वारा लगाये गये नियंत्रण लगभग कैद के समान थे। और क्यो कि कस्तूरबाई की आयु भी अधिक नहीं थी, अत. वह इस नियन्त्रण की अधिक से अधिक उपेक्षा करती थीं। आखिर को तो वह अपने मे उतनी ही सच्ची थी। यह अवश्य है कि जैसा कि गाधी जी कस्तूरबाई को भावुकतापूर्ण अति के साथ ही प्यार करते थे—दोनो के परस्पर सम्बन्ध मे कटुता अथवा तिक्तता नही आई। यही नही, हमें गांधी जी की स्वीकृति से यह भी ज्ञात होता है कि उनमे वासना का भी अतिरेक था।[2] इस वासना के अतिरेक का ही वर्णन करते हुए वह यहाँ तक स्वीकार करते हैं कि ऐसे समय भी वह कस्तूरबाई पर कृपा नही कर पाते थे जैसी स्थितियों में भोग वर्जित माना गया है।[3] चाचा के आने, और बीमार पिता के पास बैठने से छूटकर सीधे अपनी पत्नी के पास गये—गांधी जी काफी रात तक पिता को दवा आदि देते रहते थे—और थोड़ी देर बाद ही नौकर ने दरवाजा खटकाया और पिता की तबीयत खराब बताई सत्य यह था कि उनकी मृत्यु हो गई थी। गाधी जी को अपनी वासना की अति का इस क्षण इतना पश्चात्ताप हुआ कि वह उनके जीवन में अमिट होकर रह गया।[4] वह अन्तिम समय में क्यों पिता के पास नही रहे यह ग्लानि उनके साथ लग गई। और कौन कह सकता है कि अचेतन मे पड़े

---

१. द सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाधी, वॉल्यूम १, पृ०, १५
२. वही, पृ०, १७
३. वही, पृ०, ४१
४. वही, पृ०, ४३

इस दुर्घटना के प्रभाव ने उन्हें आगे चलकर ब्रह्मचर्य की तरफ प्रेरित किया हो। लेकिन गांधी जी के चरित्र को देखते हुए यह आधारहीन अटकल होगी जिसको हम महत्त्व नहीं देना चाहते।

अब तक की जीवन घटनाओं से हम गांधी जी के बारे में निष्कर्ष अवश्य निकाल सकते हैं। जहाँ उनकी अन्तरात्मा अपने मूलरूप में अभी तक स्वच्छ तथा आवरण रहित थी, और कि उनके चरित्र में छल जैसी प्रवृत्ति नहीं थी, वहाँ उनमें सुधारक की अभिवृत्ति भी थी जैसा कि उस दोस्त के साथ के उनके सम्बन्ध को लेकर स्पष्ट होता है जिसने इन्हें मांस खाने के लिए प्रेरित किया। घर के सदस्यों की यह धारणा थी कि वह दोस्त अच्छा नहीं है—और यह गांधी जी स्वयं भी स्वीकार करते हैं—अतः उनको उसका साथ छोड़ देना चाहिए। लेकिन गांधी जी ने उसका साथ इसलिए नहीं छोड़ा कि वह उसे सुधारना चाहते थे।[1] एक प्रकार की अपने सोचे हुए पर अटल रहने की ज़िद, हमें उनमें आरम्भ से मिलती है। यह ज़िद किसी सीमा तक उन्हें समझौते के योग्य तक नहीं छोड़ती थी। आगे चलकर यही ज़िद, उनकी दृढ़ संकल्पात्मक शक्ति की आधार बनी। कर्तव्य के प्रति सजगता तथा आस्था उनकी दूसरी प्रमुख विशेषता थी।

यहाँ हम एक प्रश्न—जो कि विषयांतर भी कहा जा सकता है—अवश्य रखना चाहेंगे। जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस आदि इतने धर्मपरायण, परम्परापोषक क्यों नहीं बन सके? इसका उत्तर साफ़ है कि जिस वातावरण में गांधी जी का आरम्भिक जीवन बीता वह अपने स्वभाव में परम्परा-संरक्षक था, जब कि नेहरू को पूर्णतया पाश्चात्य सभ्यता का वातावरण मिला—बचपन में भी तथा युवा आयु में भी। गांधी जी को नैतिक शपथों के वृत्तों में घेरकर अपने को चलाना पड़ा, पर नेहरू को इस दृष्टि से अपेक्षतया अधिक स्वतंत्र वातावरण मिला।

गांधी जी जिन परिस्थितियों को पार करके इंग्लैण्ड बैरिस्टरी पढ़ने गये वह इस सत्य को सामने रखती हैं कि उन्होंने बहुत कुछ ऐसा स्वीकार किया जो उन्हें परिधियों में बांधता था। और क्योंकि गांधी जी के चरित्र की एक विशेषता हमें शुरू से मिलती है कि वे अपने तथा अपने द्वारा दिये गये वचनों के प्रति अडिग रहते थे, इसलिए उन पर किये गये बाध्य-आरोपण भी उनकी खुद की स्वीकृति बन गये। उदाहरण के तौर पर विदेश के लिए

---

१. द सलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, वॉल्यूम १, पृ०, ३३

प्रस्थान करने से पूर्व ली गई तीन शपथें—वह मांस, मदिरा तथा नारी का स्पर्श नहीं करेंगे। यह शपथें उनके जा पाने की बाध्य शर्तें थीं। उनकी माँ ने —जिन्हें वह अत्यंत प्यार करते थे इस बात का ध्यान रखना होगा—तभी उनको इंग्लैण्ड जाने की स्वीकृति दी थी, जब उन्होंने अपने विश्वास के लिए उक्त शपथों को जैन साधु बेचारजी के साक्ष्य में उन्हें दिलवा दिया था।

इतना ही नहीं गांधी जी को एक प्रकार से जाति से बहिष्कृत होकर इंग्लैंड जाना पड़ा था। उनकी जाति के पंच का फैसला ध्यातव्य है -

यह लड़का आज से जाति से बहिष्कृत माना जायेगा। जो भी इसकी सहायता करेगा, या इसको बन्दरगाह पर विदाई देने जायेगा उस पर सवा रुपये का दंड लिया जायेगा।[1]

यह भी ध्यान देना होगा कि इस परिस्थिति में गांधी जी के बड़े भाई अपूर्व साहस वाले साबित हुए। उन्होंने एक तरफ तो जाति की इस संकीर्णता की उपेक्षा की, दूसरी तरफ शिक्षा व्यय के लिए कर्ज लेना स्वीकार किया। गांधी जी अपने इन भाई को भी उतनी ही श्रद्धा देते थे जितनी अपने पिता को। आर्थिक अभाव ने भी गांधी जी को सादे जीवन की तरफ मोड़ा।

हमें उनकी आत्मकथा में इस प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है कि इंग्लैण्ड में पहुँचकर किस तरह उनके मांस तथा मदिरा का सेवन न करने की शपथ ने उन्हें वहाँ की शाकाहारी संस्था की तरफ ढकेला।

डा० मेहता ने उन्हें एक अंग्रेजी मित्र के परिवार में इसलिए ठहरने की सलाह दी ताकि वह इंग्लैण्ड के रहन-सहन तथा वहाँ की सभ्यता से परिचित हो जायें। उन्हें वहाँ ऐसे रेस्तराँ की खोज करनी पड़ी जहाँ कि शाकाहारी भोजन प्राप्त हो सके। अपनी दो शपथों को निभाने के लिए गांधी जी को अपने मित्रों की भी असहमति तथा क्षणिक रोष का पात्र बनना पड़ा।

शाकाहारी रेस्तराँ में उन्हें साल्ट की पुस्तक 'प्ली फॉर वेजिटेरियनिज़्म' देखने को मिली। इसे पढ़ने के बाद ही उनके मस्तिष्क ने शाकाहार को स्वीकार किया। वह लिखते हैं :

मैं अब तक मांसाहार से, सत्य तथा ली हुई शपथ के निभाव के कारण

---

1. द सलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी : वॉल्यूम 1, पृ० २८-४६

अपने को बना रहा था लेकिन मैंने इच्छा की थी कि हर भारतवासी को मांसाहारी होना चाहिए, और मैं स्वयं भी किसी दिन स्वतंत्रतापूर्वक और खुले हुए रूप में वैसा होने की सोच रहा था तथा दूसरों को भी इस उद्देश्य के लिए मुहिम में लाना चाह रहा था। लेकिन अब मेरा चुनाव शाकाहार के पक्ष में हो गया, जिसका कि प्रसार मेरा उद्देश्य बन गया।'

गांधी जी को परिस्थितियों की वास्तवता ने भी बहुत कुछ वैसा बनाया जैसा उन्हें आगे बनना था। हमने आर्थिक अभाव की बात की है। इस ख्याल से कि उनके भाई उनकी शिक्षा का भार वहन कर रहे हैं, उन्होंने अपने को अंग्रेजी रहन सहन के उस खर्चीले तथा लालायित करने वाले प्रभाव से *बचा रखा जो भारतीयता को परोक्ष रूप से हर लेता था।* एक बार मित्र के कहने पर उन्होंने कपड़ों, तथा नाच आदि सीखने पर खर्च भी किया ताकि वह वहाँ के समाज के उपयुक्त हो जायें, परन्तु फिर खर्च का ध्यान आते ही उन्होंने अपने पर सयम कर लिया।

यहाँ हमें गांधी जी के शर्मीले तथा भीरु स्वभाव का भी पता चलता है। उन्हें जब भी चार आदमियों के बीच में बोलने का अवसर मिला वह लिख-कर भी नहीं बोल सके। ऐसा लगता है कि परिस्थितियों ने एक प्रकार की हीन भावना उनको दी थी, अथवा, हास्यास्पद न बने इस डर से वह अव-सर से पलायन कर जाते थे। लेकिन उनका अन्तर इस हीन भावना से संघर्ष करता हुआ प्राप्त होता है। वह चारित्रिक शुद्धता के द्वारा इस पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। इंग्लैण्ड की शाकाहारी संस्था से जुड़ना चाहे शरम-जन्य रहा हो पर बाद में वही उनके 'विश्वास' का विषय (object) बन गई।

गांधी जी का आरम्भिक स्वभाव—या मूल स्वभाव—यदि हम *अन्तर्मुखी कहें तो अनुचित नहीं होगा। वह वास्तव में अन्तर्मुखी* तथा स्वकेन्द्रित थे, और अन्त तक रहे, परन्तु उनकी धार्मिक आस्था, तथा उनके नैतिक विश्वासों ने उन्हें कर्मनिष्ठ बनाये रखा। गांधी जी अपने को सुधारक कहते हुए नहीं थकते हैं—और यह सही भी है। हर आत्मकेन्द्रित व्यक्ति अपने माध्यम से सत्य को देखता है, और यह दोष अथवा गुण हमें गांधी जी में भी प्राप्त होता है। लेकिन गांधी जी आत्मकेन्द्रित होते हुए भी क्योंकि गीता के कर्मयोग को अपने जीवन में उतार रहे थे अतः वह उतने

---

१. द सलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी : वॉल्यूम १, पृ० ७०

ही बहिर्मुखी भी हो गये, जितने अन्तर्मुखी रहे।

'सत्य' गांधीजी का सतत-शोधन रहा है। इसीलिए उनका दर्शन सत्य को ही ईश्वर मानता है। छोटी से छोटी घटना में उन्हें सत्य की विजय दीखी। गांधी जी ने अपने विद्यार्थी-काल की एक घटना का वर्णन किया है। जब वह सत्य के कारण बाहर को चला गये। उनका एक ऐसे अंग्रेजी परिवार में प्रवेश था जिसकी एक बूढ़ी महिला उनको इसलिए परिवार की युवती सदस्या के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक मिलने दे रही थी कि वह उन्हें अविवाहित समझती थी। उसकी कदाचित् यह भी इच्छा थी कि उन दोनों का वैवाहिक सम्बन्ध हो जाये। गांधी जी ने इस खतरे की कल्पना कर ली, और इससे पहले कि कोई अप्रिय स्थिति उत्पन्न हो, उन्होंने सत्य को प्रकट करना उचित समझा। उन्होंने उस वृद्ध महिला को लिखकर भेजा कि वह विवाहित है, तथा उनके एक बच्चा भी है। अगर इस सत्य को जानने के बाद भी वह उन्हें आतिथ्य के योग्य समझती है तो वह सहर्ष वहाँ पूर्ववत् आते-जाते रहेंगे। पत्र का उत्तर अनुकूल मिला। वृद्ध महिला ने आग्रह किया कि वह अपना आना-जारी रखेंगे, और कि इस घटना से उनकी मित्रता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

गांधी जी इस घटना पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं, 'इस प्रकार मैंने अपने में से असत्य का हानिकारक कीड़ा निकाल दिया। उसके बाद मुझे अपने विवाह के बारे में बात करने में कभी हिचक नहीं हुई—जहाँ भी ऐसी आवश्यकता पड़ी।'[1]

सत्य हृदय-परिवर्तन करता है। सत्य निर्भीक बनाता है। सत्य का प्रभाव अवश्य अनुकूल पड़ता है—गांधी जी अब तक इतना ही जान पाये थे। लेकिन सत्य आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक व धार्मिक मान्यताओं को आमूल बदलने के लिए नया दृष्टिकोण दे सकता है, इसका पता गांधी जी को अपने बाद के जीवनानुभवों से लगा।

गांधी जी ने तीन आधुनिकों का अपने पर प्रभाव स्वीकार किया है। वह लिखते हैं :

तीन आधुनिकों ने मेरे जीवन पर गहरा प्रभाव छोड़ा है तथा मेरे हृदय को आकर्षित किया है : रामचन्द्र भाई ने अपने जीवन सम्बन्ध से, टॉल्स्टाय ने अपनी पुस्तक 'द किंगडम ऑफ गॉड इज विदिन यू' से तथा

१. द सलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, वॉल्यूम १, पृ० ६८

रस्किन ने अपनी पुस्तक 'अन् टु द लास्ट' से।'[1]

इनमें से रामचन्द्र भाई से गांधी जी इसलिए प्रभावित हुए थे कि वह जौहरी होते हुए भी अद्भुत स्मरण-शक्ति, विद्वत्ता तथा आध्यात्मिक सम्पन्नता रखते थे। रामचन्द्र भाई का जीवन एक निस्संग कार्मिक का जीवन था, जो सांसारिक कार्यों को बखूबी निभाते हुए भी जल में रहते हुए कमल के पत्ते की तरह अप्रभावित तथा निर्लिप्त था।

गांधी जी में अजीब-सी विरोधी प्रवृत्तियां प्राप्त होती हैं। ऐसा लगता है कि उनके अन्तस् में एक ऐसा सहिष्णु तत्त्व था जो उनको कभी भी आवेशात्मक प्रतिक्रिया नहीं करने देता था। यदि इस तत्त्व को भी उघारें तो एक सत्य अपेक्षतया अधिक गहराई में बैठा मिलता है—अपने कार्य से किसी अन्य के विश्वासों को आघात न पहुँचाना। उनका यह आन्तरिक स्वभाव कभी-कभी ऐसी परम्पराओं को क्रियात्मक समर्थन देता प्रतीत होता है—चाहे वह दूसरों के लिए हो—जिसको उनकी बुद्धि स्वयं स्वीकार नहीं करती होती। और यही विशेषता आगे चलकर इतनी विकसित हो जाती है कि अहिंसा की व्याख्या बन जाती है, तथा उनकी राजनीति की हासिल।

इंग्लैण्ड से लौटने पर उनके बड़े भाई ने जाति के एक पक्ष को संतुष्ट करने के लिए गांधीजी को नासिक की नदी में स्नान करवाया तथा जाति-भोज दिया। ऐसा शुद्धिकरण के लिए किया गया था। गांधी जी इस घटना के संदर्भ में लिखते हैं, 'यद्यपि यह सब मैं पसन्द नहीं करता था लेकिन मेरे भाई का मेरे प्रति प्रेम सीमाहीन था, और मैं उतने ही अनुपात में उन पर श्रद्धा रखता था। अतः मैंने यन्त्र सदृश सब कुछ उनकी इच्छा के अनुसार किया, उनकी इच्छा को कानून समझकर।'[2]

एक तरफ वह इस कर्मकांड को स्वीकार करते हैं, दूसरी तरफ जाति के उस निर्णय को स्वीकार करते हैं, जिसके कारण उनके बहनोई तथा ससुराल वाले उन्हें स्वीकार करने में असमर्थ हैं। वह चाहते थे कि समाज में बात छिपी रहे, पर गांधी जी खान पान जारी रखें। गांधी जी इस सम्बन्ध में लिखते हैं :

यह मेरे स्वभाव के प्रतिकूल था कि मैं छिपाव में कोई ऐसा कार्य

---

१. द सलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, वॉल्यूम १, पृ० १०।
२. वही, पृ० ११२

करूं जिसको कि मैं समाज मे नही कर सकूं ।[1]

लेकिन प्रश्न उठता है पहले कर्म-काड को फिर क्यो स्वीकार किया गया ? यंत्रवत् होकर किसी क्रिया को अपनी आत्मा के विरुद्ध कर जाना—जबकि उसको मस्तिष्क स्वीकार न कर रहा हो- अपने को धोखा देना नही है या कि उस रूप मे दिखाना नही है, जिस रूप को दिखाना नही चाहा जा रहा हो ? यद्यपि ऊपरी दृष्टि से देखने से ऐसा ही लगता है कि यह व्यक्तित्व की कमजोरी का द्योतक है लेकिन, यदि गहराई से देखें तो दूसरा सत्य सामने आएगा। उन्होने उस कर्मकाड को इसलिए स्वीकार किया ताकि उनके बड़े भाई को अवज्ञा से उत्पन्न आन्तरिक कष्ट न सहना पड़े। यहाँ सविनय अवज्ञा की भी गुजाइश नहीं थी। यह साधन कदाचित् तब तक गांधी जी तक नही आया था।

वास्तव मे गाधी जीका व्यक्तित्व हमे दक्षिणी अफ्रीका मे खुलता हुआ तथा स्पष्ट होता हुआ प्राप्त होता है। भारतवर्ष मे गाधी जी ने वकालत करनी चाही, लेकिन वह असफल रहे। वह अपने पहले मुकदमे मे ही काँप गये और कुछ नही बोल सके। उन्होने अध्यापक बनना चाहा, उन्हे इसलिए नही लिया गया क्योंकि वह ग्रेजुएट नही थे। अतः अन्त मे उन्हें 'दादा अब्दुल्ला एण्ड कम्पनी' का नौकरी का प्रस्ताव स्वीकार करना पड़ा। यह कम्पनी दक्षिणी अफ्रीका मे थी।

उनकी सत्य के प्रति दृढता तथा उनका न्याय के प्रति आग्रह हमे दक्षिणी अफ्रीका मे घटित हुई दुर्घटनाओं के समय उभरता मिलता है। दक्षिणी अफ्रीका मे भारतीयो को 'कुली' कहा जाता था, और उनको इतना भी अधिकार नहीं था कि वह फर्स्ट क्लास का टिकट लेकर भी उसमे सफर कर सकें। यह सारे अधिकार अंग्रेजों के लिए सुरक्षित थे। उन्हे दो बार इसी कारण से अपमान सहना पड़ा, यहाँतक कि लीडर (कोच के अधिकारी) ने उनको मारा भी।

दक्षिणी अफ्रीका के भारतवासियो की दयनीय दशा ने ही गाधी जी को कर्म-क्षेत्र मे आने के लिए बाध्य किया। उनको सार्वजनिक जीवन की तरफ लाने वाली यही स्थितियाँ थी, जिनके वह स्वय भुक्तभोगी हुए। गांधी जी को एक कान्सटेबिल ने इसलिए मारा क्योंकि वह ९ बजे के बाद फुटपाथ पर चल रहे थे—हालाकि उनके पास इस छूट का परमिट था।

---

१. द सलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाधी, वॉल्यूम १, पृ० १३३

वहाँ उनको किसी होटल में ठहरने को नहीं मिला। वहाँ के हर रहने वाले भारतवासी की यही नियति थी। उनको बताया गया कि यहाँ सिर्फ धन कमाने के अलावा हम सम्मान के नाम पर कुछ प्राप्त नहीं कर सकते।

हम एक काल्पनिक प्रश्न फिर उठाना चाहेंगे—क्या गांधी जी उतनी ही सफलता भारत में भी पा लेते, जितनी उन्होंने अफ्रीका में पाई, अगर वह अफ्रीका न जाकर भारत में रह जाते ? हमें ऐसा लगता है कि तब हम वह गांधी मुश्किल से पाते जो हमें मिला।

गांधी जी को वहाँ लगभग अबाधित नेतृत्व करने का अवसर मिला। भारत में जब वह आये तो उनसे पहले उनकी प्रतिष्ठा यहाँ तथा सारे संसार में फैल चुकी थी। किसी सम्भावना को लेकर निष्कर्ष तक पहुँचना असंगत होगा। लेकिन एक सत्य सामने अवश्य आता है कि अनपढ़ व्यवसायी पारसी तथा अफ्रीका के गिरमिटिया मजदूरों के बीच उनको अवसर मिला कि वह अपने व्यक्तित्व का पूरा खुलाव प्राप्त कर सकें। हम इस सत्य पर इसलिए अधिक जोर देना चाहते हैं क्योंकि महात्मा गांधी के व्यक्तित्व में हमें पलायन का पक्ष भी उतना ही प्रबल मिलता है जितना सक्रियता का। जिस निर्भयता तथा निरंकुशता को वह अफ्रीका में अपने व्यक्तित्व में ला सके, वह कदाचित् भारत में उन्हें प्राप्त नहीं हो पाती। इस सम्बन्ध में हम बाद में और अधिक पुष्टता से विचार करना चाहेंगे।

गांधी जी ने अपना पहला सार्वजनिक भाषण प्रिटोरियों के भारतवासियों की सभा में दिया जिसमें उन्होंने अपनी सेवाओं को देने की घोषणा की। उपर्युक्त विश्लेषण देने से हमारा यह कदापि आशय नहीं है कि हम गांधी जी की क्षमताओं के सामने प्रश्न चिन्ह लगा रहे हों क्योंकि गांधी जी में एक प्रवृत्ति प्रबलतम थी— सेवा की भावना।[1] इसी से प्रेरित होकर उन्होंने 'नेटाल इण्डियन कांग्रेस' की स्थापना की।

गांधी जी जानते थे कि सार्वजनिक कार्य करने वाले को नैतिक रूप से सबल होना चाहिए, सेवा भाव से परिचालित होना चाहिए, उसको सर्वदा स्वार्थ से दूर रहना चाहिए, तथा अपने चरित्र को निष्कलंक रखना चाहिए। गांधी जी ने अपने व्यक्तित्व को इसी रूप में ढालने के लिए आत्म-अनुशासन तथा निग्रह का मार्ग अपनाया। सादगी से जीवन व्यतीत करने का अभ्यास वह इंग्लैंड से करते आ रहे थे, अतः उन्होंने इस दिशा में और

---

१. द सलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, वॉल्यूम १, पृ० ३०१

अधिक प्रगति की ।

गांधी जी के अफ्रीका में किये गये कार्य द्विपक्षीय थे । एक तरफ वह औपनिवेशिक शक्ति से सत्याग्रह के बल पर संघर्ष कर रहे थे, दूसरी तरफ उनकी सेवा भावना सामाजिक कार्य करवा रही थी । जोहान्सवर्ग के पास की भारतीय बस्ती में फैलने वाले काले ऊन, बोर लड़ाई में घायलों की सेवा, 'जुलू' विद्रोह में जुलू घायलों की देखरेख, उनकी सेवा-भावना के ही परिचायक हैं । वह शुद्ध राजनीतिज्ञ नहीं थे, प्रमुख रूप से वह सेवा-कामी थे । क्योंकि राजनीति में भी सेवा प्रमुख उद्देश्य के रूप में आती है, इसलिए वह राजनीतिज्ञ बने ।

ऐसा प्रतीत होता है कि उनके धार्मिक संस्कार उन्हें शान्तमय जीवन बिताने के लिए अपनी तरफ घसीटते थे, लेकिन उनकी सेवा-प्रवृत्ति उन्हें संघर्ष की बीच में ले जाकर खड़ा कर देती थी । फोनिक्स की बस्ती, टॉलस्टाय फार्म, सेवाश्रम आदि की स्थापना उनकी पहली अभिलाषा की द्योतक हैं, राजनीति में आजीवन रहना उनकी दूसरी प्रवृति के प्रबल दबाव का द्योतक है । उनका व्यक्ति इन दो प्रवृत्तियों के संघर्षों का स्थल हमेशा रहा है, पर क्योंकि यह दोनों ही प्रवृत्तियां एक-दूसरे की पूरक तथा उसको पुष्ट करने वाली थीं; अतः उनका व्यक्तित्व तड़कने के बजाय संयोजित तथा साग होता गया ।

'ईश्वर की इच्छा' एक ऐसी ढाल रही है जिसने इस संघर्ष को ढके रखा । वह दक्षिणी अफ्रीका से आकर बम्बई में अपने परिवार को जमाने का प्रयत्न कर रहे थे कि वहाँ से फिर बुलाने का तार आ गया । उस समय की अपनी प्रतिक्रिया को वह इन शब्दों में अभिव्यक्ति करते हैं जो ध्यातव्य है :

> यह कहा जा सकता है कि ईश्वर ने कभी भी यह स्वीकृति नहीं दी कि मेरी व्यक्तिगत कोई भी योजना पूरी हो । उसने उसको अपनी तरह से छिन्न-भिन्न किया ।[1]

गांधी जी अन्तरात्मा की आवाज पर बहुत विश्वास करते थे, क्योंकि वह समझते थे, ईश्वर उसी के माध्यम से आदेश देता है । अपने सिद्धान्तों पर अटल विश्वास रखने के कारण गांधी जी में एक विशिष्ट प्रकार की असहिष्णुता भी आई थी, जो उनके समर्थकों तथा उन पर श्रद्धा रखने वालों

---

१. द सलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, वॉल्यूम २, पृ० ४६८

दर्शन

दर्शन मानसिक विलासिता नहीं है। यह बैठे-ठाले की तार्किक कसरत नहीं है। यह मनुष्य के जीवन से इतर, काल और कालगत परिस्थितियों से अछूता कोई हवाई विषय नहीं है। यह तत्त्व ज्ञान है। और तत्त्व अथवा सत्त्व बालू को निचोड़ने से नहीं निकलता। दार्शनिक का चिन्तन अतीत और वर्तमान को नक्शे की तरह सामने फैलाकर रखता है, तब तात्त्विक सत्य प्राप्त होते हैं। अगर ऐसा न होता, तो पहला दार्शनिक अन्तिम दार्शनिक होता। उसके द्वारा प्रतिपादित दर्शन अन्तिम दर्शन होता। फिर, न मनुष्य की बुद्धि का कोई प्रयोजन होता और न उसकी चिन्तन क्षमता की सार्थकता सिद्ध होती। लेकिन ऐसा गुज़रे काल मे नहीं हो सका; ऐसा वर्तमान मे भी नहीं हुआ; ऐसा कदाचित् भविष्य मे भी नहीं होगा। मनुष्य की जिज्ञासा और सत्य की अनथक खोज उसकी नैसर्गिक प्रवृत्ति रही है, उसने किनारे पर बैठकर सभ्यता और सस्कृति की अजस्र प्रवाह में बहने वाली धारा को तटस्थ तथा निरपेक्ष दर्शक की तरह नहीं देखा है, उसने उसमे गोता लगाकर मोतियो को इकट्ठा किया है और ककड़-पत्थरो को बाहर निकालकर फेंक दिया है। इसीलिए दर्शन जीवन से सम्बद्ध रहा है। जो उसे मात्र विषय मानते हैं, वह उसके उद्देश्य की उपेक्षा करके, उसके अस्तित्व को ही एक दृष्टि से नकारते हैं।

'द स्टोरी ऑफ फिलोसोफी' के विद्वान् लेखक विलडूरां ने प्राकृतिक परिवर्तन तथा फलस्वरूप सभ्यता मे घटित परिवर्तन की तरफ संकेत करते हुए कहा है, 'इसलिए, मनुष्य की कहानी एक उदासी-भरे वृत्त में चलती है, क्योंकि वह अभी तक पृथ्वी का स्वामी नहीं है, जो कि उसको वहन करती है।' वह सभ्यता की उपलब्धि की 'सिसिफस' से तुलना करते हुए लिखते है : 'सिसिफ़स की भांति सभ्यता बार-बार अपनी उच्चतम चोटी

पर पहुँची है, सिर्फ पाशविकता में गिरने के लिए, और फिर शुरुआत से पुनः ऊर्ध्वगमन करने के लिए।"[1] इसीलिए सभ्यता मे निरन्तर 'अँधेरे युग' का पुनरावर्तन होता रहा है और विद्याध्ययन, विज्ञान तथा कला का पुनर्जन्म होता रहा है।

कोई भी दर्शन कब युग के उपयुक्त तथा अनुकूल होता है, यह तभी जाना जा सकता है जब उस युग को समझ लिया जाये। गांधी जिस युग में पैदा हुए, बड़े हुए, प्रौढ़ हुए, वृद्ध हुए, वह युग विज्ञान की परिपक्व प्रगति और औद्योगिकी की अविस्मरणीय उपलब्धियों का युग है। यह युग व्यापारिक युग है जिसका लक्ष्य सम्पन्नता को चक्रवर्ती ब्याज की तरह बढ़ाना है। यह युग उस राजा की अन्धी तृष्णा का युग है जिसने सोने के अतीव लालच में अपने खाने को भी सोने का डला बना लिया और अपनी बेटी को भी सोने की बेजान मूर्ति बना लिया। यह युग जिस्म की ख्वाहिशों का युग है। यह युग पाशविक शक्तियों के संचय का युग है, जिसमें वही देश, वही राष्ट्र इतिहास का नियन्ता है जिसके पास सैनिकों की एक असंख्य भीड़ खरीदने की क्षमता है, ऐसे मारक अस्त्रों के बनाने की योग्यता है, जो विश्व मे तबाही घटित कर सकते हैं। यह युग उनका है जिन्होंने दो विश्वव्यापी महायुद्धों को चलाया और इन्सानों को मुर्गों की तरह सामूहिक रूप मे खत्म किया। और ऐसी निकृष्टता और पाशविकता को सर्वोत्तम सत्य मानने वाले व्यापारिक युग में गांधी पैदा हुए। उन्होंने एक दर्शन या विचारधारा प्रस्तुत की। उसे हम इस अध्याय में प्रस्तुत करना चाहेंगे। वह किस अंश मे उपयोगी और मार्गदर्शक है, यह अध्येता समझें!

मनुष्य :

मनुष्य क्या है? क्या वह सृष्टि मे पाये जाने वाले जीवधारियों के समान है अथवा भिन्न? पशु और मनुष्य मे समानता है कि खाने, सोने तथा अन्य शारीरिक कार्य मे वे एक सी आवश्यकताओं द्वारा परिचालित होते हैं। अतः इस पक्ष में दोनों एक से हैं। लेकिन मनुष्य पशु से इसलिए भिन्न है कि वह अपने पशु-स्तर से नैतिक स्तर तक उठने के लिए अनवरत अन्तर-संघर्ष करता है। उसकी अब तक की विकास-पुष्ट उपलब्धि उसके निरन्तर संघर्ष की द्योतक है। यह संघर्ष जितना बाह्य क्षेत्र के लिए रहा

---

१. द स्टोरी ऑफ फिलॉसोफी : विल डूरां, पृ० ६६

है, उतना ही उसे अपनी अन्त प्रवृत्तियों से भी संघर्ष करना पड़ा है। तभी उसने सभ्यता के एक विशिष्ट तिरान को छुआ है। गांधी जी मनुष्य की विशेषता को बताते हुए लिखते हैं :

मनुष्य विवेक, विभिन्नता मे चयन शक्ति एवं स्वतन्त्र संकल्पात्मकता रखता है। पशु के पास ऐसी कोई वस्तु नही होती। यह स्वतन्त्र कर्ता नही है, और सद्गुण तथा दुर्गुण, अच्छाई तथा बुराई में अन्तर को नहीं जानता। मनुष्य स्वतन्त्र कर्ता होने के नाते इन भिन्नताओ को जानता है। और जब वह अपने उच्च स्वभाव का अनुसरण करता है, तब वह अपने को पशु से कही अधिक उच्च दिखाता होता है। लेकिन जब वह अपने निम्न स्वभाव का अनुसरण करता है तब अपने को पशु से भी नीची कोटि का दिखाता है।[1]

अत. गांधीजी के अनुसार मनुष्य में पशु-प्रवृत्तियाँ भी होती हैं और ऐसी भी प्रवृत्तियाँ, जो उनसे उच्च होती हैं। पहली प्रवृत्तियो के माध्यम से मनुष्य का निम्न स्वभाव परिलक्षित होता है, दूसरी प्रवृत्तियो के माध्यम से उसका उच्च स्वभाव (जिसे नैतिक पक्ष कहा जा सकता है) प्रकट होता है।

वस्तुत: मनुष्य की सहज प्रवृत्तियाँ ही उसकी भावनाओं तथा आदत का निर्णय करती है। और यह भी मनोवैज्ञानिक सत्य है कि हमारी इन्द्रियाँ सुखदायी वस्तु अथवा स्थितियों को ग्रहण करती हैं, दुःखदायी वस्तु अथवा परिस्थितियों से हटती हैं, उनसे बचती हैं, या उनका त्याग करती हैं। लेकिन जैसे ही यह किन्ही उदात्त मूल्यो को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है, इनके परिशोधन की जरूरत होती है—सही कहा जाय, तो उन इच्छाओ के परिशोधन की आवश्यकता पड़ती है जो इन्हें (प्रवृत्तियों को) निर्देशित करती हैं।

यह मूल्य हैं क्या? इनको निश्चित करने वाली मनुष्य की कौन-सी शक्ति है? जिन्हें हम सद्गुण अथवा दुर्गुण, या अच्छाई अथवा बुराई कह-कर जानना चाहते हैं, वह किससे संदर्भित है? इनकी जरूरत भी क्यों है?

यहाँ हम फिर गांधी जी के मानव-विश्लेषण को प्रस्तुत करेंगे। वह कहते हैं :

मनुष्य न तो सिर्फ बुद्धि है, न पशु शरीर, न ही मात्र हृदय अथवा

१. यंग इंडिया : ३-६-२६, पृ० २०४

आत्मा। एक उत्कृष्ट तथा सन्तुलित तीनों का संयोग, पूर्ण मनुष्य को बनाने के लिए अपेक्षित है।[1]

स्पष्ट है कि मनुष्य की बुद्धि सही निर्णय लेने के लिए पुष्ट हो, शरीर नीरोग तथा स्वस्थ हो, आत्मा शुद्ध एवं शक्तिशाली हो तभी हम पूर्ण कहे जाने वाले मनुष्य की कल्पना कर सकते हैं। नीरोग बुद्धि, नीरोग शरीर और नीरोग आत्मा वाला मनुष्य ही पूर्ण मनुष्य है। परन्तु नीरोग होने की शर्त ही किन्हीं रोगों की तरफ संकेत करती है। यह शर्त साबित करती है कि ऐसे भी रोग हैं, जो बुद्धि को बीमार बना सकते हैं, शरीर की शक्ति को क्षय कर सकते हैं, आत्मा को व्याधिग्रस्त कर सकते हैं। और इसी सम्भावना के कारण हमें ऐसे मूल्य, ऐसे कर्तव्य, ऐसे निर्देशक तत्त्व तथा ऐसे धर्म की अनिवार्यता को स्वीकार करना होता है जो हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व को असंगतियों से बचायें, और उसमें इतना सुव्यवस्थित संयोजन हो कि हमारे जीने की विधि उद्देश्यहीन कुलाँचें न भरकर सुनियोजित प्रगति प्राप्त करे। यानी, हमारा व्यक्तित्व अच्छे-बुरे टुकड़ों का भद्दा एकत्रीकरण न हो, बल्कि सनुपात-सम्मत, कलात्मक कृति हो। गांधी जी मनुष्य के स्वभाव के वास्तविक स्वरूप की विशेषता को निम्नलिखित शब्दों में बताते हैं :

मनुष्य का स्वभाव अपने 'स्व' को तभी पायेगा, जब वह यह अनुभव कर ले कि मनुष्य होने के लिए उसे पाशविक अथवा पशुवत् होने से रुकना पड़ेगा।[2]

पशु की विशेषता है कि वह निरंकुश होकर प्रवृत्तियों द्वारा संचालित होता है। उसके लक्ष्य इन्हीं प्रवृत्तियों द्वारा प्रेरित होते हैं। मनुष्य की भाषा में यह लक्ष्य निम्न तथा मात्र दैहिक आवश्यकताओं के पूरक होते हैं। परन्तु मनुष्य की बुद्धि (विवेक) तथा उसकी सकल्पात्मक शक्ति (इच्छा शक्ति) यह क्षमता भी देती है, कि वह इन प्रवृत्तियों पर अनुशासन कर ले। वह जिस कार्य को गलत समझता है, अपने सयम के द्वारा उसके विरुद्ध भी खड़ा हो सकता है। इसलिए गांधी जी मनुष्य की विशेषता आत्मसंयम में पाते हैं। मनुष्य इसलिए मनुष्य है क्योंकि वह आत्मसंयम के योग्य है। वह उस सीमा तक मनुष्य है जिस सीमा तक आत्मसंयम

१. हरिजन ८-५-'३७, पृ० १०४
२. हरिजन ८-१०-३८, पृ० २८२

को अभ्यास में लाता है।[1]

और यहीं गाधी जी मनुष्य मे दो प्रकार का स्वभाव निश्चित करते हैं। उसमे 'शैतान' का स्वभाव भी है, उसमे 'देवत्व' भी है। लेकिन गाधी जी मानते हैं कि 'हममे देवत्व की शक्तियाँ अनन्त हैं।'[2] जिसे वेदान्तियो ने 'आत्मा' कहा है, और हम साधारण भाषा मे 'स्व' (self) कहते हैं, वह सबमे एक-सी है। हर आत्मा की शक्तियाँ समान हैं, कुछ इन शक्तियो का विकास कर लेते हैं, दूसरों में ये सुप्तावस्था मे रहती है। अगर ऐसे व्यक्ति भी प्रयास करें तो उन्हें समान अनुभव होगा।[3]

तो फिर इन आत्मिक शक्तियों के विकास को प्राप्त कैसे किया जा सकता है? जीवन का लक्ष्य अगर इस विशेष विकास को प्राप्त करना है तो उसे किस प्रक्रिया से गुजरना पडेगा? मनुष्य को आत्मसयम लेना है तो उसका लक्ष्य क्या है? क्या देवत्व की वह शक्तियाँ जो उसकी आत्मा मे सुप्तावस्था मे हैं, उनको जाग्रत करना होगा? यदि ऐसा करना है, तो क्यों? किसलिए?

इन प्रश्नों का उत्तर खोजने ही गाधी जी ऐसी धारणा को स्वीकार करने को तत्पर हो जाते हैं, जिसे 'प्रत्यक्ष ही प्रमाण है' को मानने वाला आधुनिक मस्तिष्क स्वीकार करने को तैयार नहीं है। उसकी तर्क की कसौटी पर गाधी जी की यह धारणा सही नहीं बैठती। ईश्वर की स्वीकृति पर विश्वास करना एक अस्तित्वहीन, मानसिक उपज पर अपने विश्वास को टिकाना है और यह अन्धविश्वास है। यह उस युग के आदमियो का विश्वास है जिस युग को हम असभ्यता का युग घोषित करते है—आदिमयुग, डरपोक युग।

लेकिन हमे गाधी जी के ईश्वर को समझना होगा। उसका मूलरूप समझना होगा—यद्यपि वह रूपहीन है। इसके साथ-साथ मनुष्य जीवन के लक्ष्य को समझना होगा। गाधी जी कहते है:

जीवन का प्रयोजन नि सदेह अपने को समझना है। हम ऐसा तब तक नही कर सकते जब तक कि हम सब कुछ, जो जीवित है, उससे एकरूपता अनुभव करना नहीं सीख लेते। उस जीवन का योग ईश्वर है। इसलिए

---

१. आत्मकथा (१६६६), पृ० २३८
२. वही, पृ० २०६
३. नवजीवन, २५-५-'२४, पृ० ३०६

आवश्यकता है उस ईश्वर की प्राप्ति की जो कि हम सबमें रह रहा है
गाधी जी का ईश्वर कैसा है ? यह प्रतीक है उस भावना का
सारे सजीवों के साथ एकरूपता अनुभव करने के लिए प्रेरित क
यानी गांधी जी का ईश्वर आदिम युगीन, पुराना ईश्वर नहीं है,
निक है। वह उस 'प्रेम' के माध्यम से, उसके अभ्यास से प्राप्त हो
बहुचर्चित आधुनिक मूल्य 'स्वतन्त्रता', 'समानता' एवं 'बन्धुत्व' का
स्रोत है। गांधी जी अगर इस ईश्वर को—इस विशेष ईश्वर को
मानते हैं और उस पर विश्वास रखने के लिए आग्रह करते हैं, तो
अन्धविश्वास को जन्म देते होते हैं, न किसी अव्यावहारिक
स्थापना करते होते हैं। अत: वह परम्परावादी या दकियानूसी

वह यह मानते हैं कि इस ईश्वर का अनुभव 'सीमाहीन नि
से प्राप्त हो सकता है। इसीलिए गाधीजी जब जीवन के अन्ति
मात्र लक्ष्य की बात करते हैं, और उसे इस 'ईश्वर के दर्शन
तब उनका वास्तविक मन्तव्य यह होता है :

मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य ईश्वर को प्राप्त करना है,
सामाजिक, राजनीतिक धार्मिक कार्यों को अन्तिम रूप से
निर्देशित होना चाहिए कि ईश्वर के दर्शन को पाया
किया जा सकता है जब सबकी सेवा की जाये।[1]

सत्य ईश्वर है : प्रेम है : सेवा है :

सत्य 'सत्' है। यानी सत्य ही वास्तविक 'सत्' है,
है। बाकी सब भ्रम है, या उलझाव है। और यही 'स
का कारण है। यानी गाधी जी के अनुसार सत (
ईश्वर है। हम सब एक सर्वव्यापी 'सत्य' के अंश मात्र
अवस्थित है, लेकिन झूठे लालचों, मोहों व स्वार्थों
क्योंकि हमने इसे सक्रिय नहीं रखा है, अत: यह
इसकी जागृति ही आनन्द को प्राप्त करवा सकती है

लेकिन यह ज्ञान तो हो कि इस 'सत्य' का रूप
हो सकता है ? यह 'सत्य' जिसे गाधी जी ज्ञान—

---

1. महादेव देसाई की डायरी १ (१९५३), पृ०
2. हरिजन २९-८-३६, पृ० २२६

द्वारा पहचनवाना चाहते हैं, एक ही तरह से अनुभव हो सकता है—सृष्टि के सजीवों से असीम 'प्रेम' करके, उनकी निःस्वार्थ सेवा करके। अतः आनन्द तभी अनुभव होता है जब हमारा 'प्रेम' निष्काम हो। हम खुद के लिए न हों, हम खुद के लिए न जियें, हम सिर्फ अपने से ही प्रेम करके अपने को सिकोड़ें नहीं, हम अपने से प्रेम करके, मात्र अपनी ही सेवा करके कुंठित न बनें। अपने से प्रेम और अपनी सेवा जानवर भी करते हैं—वैसे अविवेकी कहे जाने वाले जानवर भी अपने बच्चों और अपनी जाति से प्रेम करते हैं। फिर हम तो मनुष्य हैं, इसलिए हम अपने प्रेम को विस्तार दे सकते हैं। स्वार्थ-केन्द्रित न होकर अपने अन्दर सोये, गुडमुडी मारे हुए, 'प्रेम' को जगा सकते हैं।

यह जितना जागेगा हमारी सेवा के घेरे को बढ़ाएगा क्योंकि किसी भी जीव का कष्ट इस दशा मे हमारा अपना कष्ट बनेगा। किसी भी जीव के चुभा हुआ पिन हमे अपने शरीर में चुभा हुआ भाला लगेगा। उसका दर्द हमारे मे उतरेगा। तब हम उसके पिन को निकालेंगे। उसको दर्द से छुटकारा दिलवाएँगे। लेकिन नहीं ! हम उस समय अपने को उस दर्द से छुटकारा दे रहे होंगे जो उसके दर्द से हममें पैदा हुआ है। अतः हम इस दशा में अपने दर्द से मुक्ति पाकर आनन्द को पा रहे होंगे। यही तो वह आनन्द है जो वास्तविक तथा स्थायी रह सकता है। क्योंकि संसार में हज़ार, हज़ार जीव दर्द से कराह रहे होते हैं कष्ट-निवारण के प्रयास में हमें साँस लेने की फ़ुर्सत नहीं मिले इतना दुःख इस पृथ्वी पर व्याप्त है। लेकिन हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिए ज्यादा से ज्यादा सेवा—दूसरो के दुःख का मोचन। और इससे जो हमें बूँद-बूँद आनन्द मिलेगा (एक का दुःख हटाना=एक बूंद आनन्द) वह अनथक सेवा की वजह से अटूट और अक्षय आनन्द बन जाएगा। यानी हम स्थायी आनन्द को भोगते होंगे। यह आनन्द शारीरिक नहीं होगा अन्दर का होगा, हमारे असली, शुद्ध 'स्व' का। इस आनन्द की प्राप्ति के तरीको को जानना, या उसका ज्ञान 'चित्' है। यह ज्ञान, सेवा ज्ञान है। यानी प्रेम ज्ञान है। यानी 'सत्' ज्ञान है। यानी सत्य ज्ञान है। यानी ईश्वर ज्ञान है।

जब ईश्वर को 'सत-चित-आनन्द' कहते हैं, तो उसका अर्थ है : 'सत्,' सत्य है—प्रेम और सेवा। 'चित' इस सत्य का ज्ञान है। और इस 'सत्य' की प्राप्ति आनन्द है। गाधी जी ईश्वर को ऊर्जा मानते हैं। वह शुद्ध तथा

अकलुप चेतना है। यही जीवन का सार है। यह अनन्त है।[1] गांधीजी का ईश्वर सारी अच्छाइयों को धारण करता है। वह कहते हैं :

अच्छाई ईश्वर है। उससे पृथक अच्छाई को अनुमानित करना नि:शक्त वस्तु को अनुमानित करना है।···हम इसलिए अच्छा बनना चाहते हैं, क्योंकि हम उस तक पहुँचना और उसे अनुभव करना चाहते हैं। संसार की सारी शुष्क नैतिकी धूल में बदल जाती है, क्योंकि ईश्वर से अलग वह निर्जीव है।[2]

ध्यान देने की बात है कि गाधी जी ईश्वर की इस वजह से आवश्यकता महसूस करते हैं क्योंकि मात्र भावात्मक गुणों पर हमारा विश्वास ठहर नहीं सकता। जीवन को कर्म-प्रेरित करने के लिए मनुष्य को विश्वासी होना पड़ेगा। उसे कहीं न कहीं अपनी श्रद्धा को ठहराना पड़ेगा। मनुष्य की कार्य करने वाली शक्ति किसी भी विषय (Object) को विश्वास तथा श्रद्धा समर्पित करने के बाद ही उसके गुणों को अपने मे उतारने के लिए अविरत संलग्न रह सकती है। आधुनिक चिन्तन-धारा ने 'मनुष्य' को 'विषय' बनाना चाहा। मानवतावादी दृष्टिकोण को जीवन का आदर्श-पूर्ण, अनुकरणीय, 'वाद' माना। पर इस मनोवैज्ञानिक सत्य को भुला दिया गया कि मानव में सिर्फ 'तर्क' ही नहीं है, उसमें एक प्रवृत्ति यह भी है, जो 'विश्वास' ठहराने के लिए आधार खोजती है। 'तर्क' और 'विवेक' एक निश्चित दूरी तय करने के बाद चकरा जाता है। उसके बाद का कदम 'विश्वास' का है क्योंकि बहुत कुछ ऐसा है जिस जगह पहुँचकर हमारी बुद्धि अपने को अयोग्य पाती है। सृष्टि का हर रहस्य अभी तक खुला नहीं है। बुद्धि उसे खोल नहीं पाई है। अतः जब वह अपने को पूरी तरह अक्षम पाती है तब 'विश्वास' को पुकारती है। प्रश्न यह है कि 'विश्वास' का विषय किसे बनाया जाय? गाधी जी यहीं हमारी सहायता करते हैं। वह मानवतावादी की तरह 'मनुष्य' को केवल 'मनुष्य' पर ठहराने के लिए तैयार नहीं है। बल्कि वह एक 'परम मानव,' की कल्पना करते हैं। यह 'परम मानव' ही उनका ईश्वर है। यह उन सारी 'अच्छाइयों' का धारण कर्ता है, स्रोत है जिसकी हम कल्पना कर सकते हैं। यही 'परम मानव' हमारे विश्वास का विषय (object) बन सकता है। अतः

---

१. हरिजन २२-६-'४७ पृ० २००
२. हरिजन २४-८-'४७२, पृ० २८६

गांधी जी मानवतावाद को मात्र मानसिक समर्थन नहीं देना चाहते, क्योंकि कोरा मानसिक समर्थन हमें कर्म से वंचित करता है। वह एक 'परम मानव' में सारी अच्छाइयों को अवस्थित कर उसके प्रति विश्वास (Faith) रखने को कहते हैं। उसके अनुसार बनने को 'धर्म' कहते हैं। यदि सही शब्दों मे कहा जाये तो गांधी जी का ईश्वर ऐसा 'परम मानव' है, जिसमे दुनिया भर के सारे संविधानों का 'सत' (Essence) है, यू० न० ओ का 'चार्टर' है। वह ऐसे एक 'आदर्श विश्व नागरिक' का प्रतिरूप है, और अन्तर-राष्ट्रीय कानून का धारणकर्ता है, जिसको प्राप्त करने के लिए हर राष्ट्र और राष्ट्र का एक-एक नागरिक बेचैन है। लेकिन दिक्कत यह है कि उसके अनुसार बन नहीं पा रहा है—इसलिए नहीं बन पा रहा है क्योंकि विश्वास के नाम खोखला है, और कर्म के नाम उल्टी दिशा में चलने वाला। वह जाना कहीं चाहता है, पहुँच रहा है विपरीत जगह। और यह इसलिए, क्योंकि वह अपने पर नियंत्रण खो चुका है। बिना तैराकी के पर्याप्त अभ्यास के पार करना चाहता है महासागर। वह उस 'लाइफबोट' में नहीं बैठना चाहता जो आत्मसंयम अथवा आत्मशुद्धि अथवा आत्मानु-शासन द्वारा प्राप्त होती है। अस्तु।

आत्मानुशासन : आत्मसंयम : आत्मशुद्धि

आत्मानुशासन अथवा 'स्व' के अनुशासन का अर्थ क्या है ? मनुष्य जितना स्व-प्रेमी है, उतना ही सामाजिक है। वह केवल अपने लिए नहीं जी सकता। रोबिन्स क्रूसो को भी पक्षी पालना पड़ा था, ताकि सामाजिक भाव अथवा अपने अन्दर के इस अंश की तृप्ति कर सके। और जब उसे 'फ्राइडे' जैसा एक व्यक्ति प्राप्त हो गया था तो वह बहुत खुश हुआ था। उसके लिए सिर्फ अपने लिए जीना घुटन दे रहा था। इसी तरह मनुष्य अपने लिए जीकर तृप्त नहीं हो सकता। उसे परिवार की आवश्यकता पड़ती है। वह चाहता है कि अपने में अवस्थित प्रेम का विषय (object) प्राप्त करे। वह यह भी चाहता है कि उसके लिए त्याग करे। यानी अपनी कही जाने वाली सुविधाओं का पत्नी के लिए, अपने बच्चों के लिये त्याग करे। परिवार न हो तो कोई पालतू पशु पाल ले और फिर उसी पर अपना प्रेम रखे। उसे कोई विषय चाहिए। और ऐसा करके उसे विशिष्ट आनन्द प्राप्त होता है। यह 'प्लेजर गिविंग' है 'हैपीनेस गिविंग' भी। पर यह आनन्द उसे यूँ ही प्राप्त नहीं होता। उसे अनुशासन

की प्रक्रिया से गुजरना होता है। एक आदमी ने कुत्ता पाल रखा है। वह दिन-भर के काम से थका हुआ आता है। आकर पलंग पर पड़ जाता है। शरीर आराम महसूस कर रहा है। उसे एकाएक ध्यान आता है कुत्ते को खाना नहीं दिया। शरीर आराम चाह रहा है, आराम कर रहा है, लेकिन ऐसा ध्यान आते ही वह उठता है। वह कुत्ते को जाकर दूध देता है, जिसे उसने अपनी कमाई में से खरीदा है— उस कमाई में से जिसे वह अपने लिए कमाता है और चाहे तो सिर्फ अपने लिए खर्च कर सकता है। ऐसा वह अपनी इच्छा से करता है। वह पलंग पर पड़ा भी रह सकता था। पर अन्दर जो प्रेम है, वह उसे प्रेरित करता है। वह शरीर के आराम की तीव्र इच्छा पर संयम पाता है। एक अनुशासन स्वत: उसके अनजान में सक्रिय होता है। यह स्वत: होता है, अत: ऐसा नहीं लगता कि वह किसी आत्मानुशासन की प्रक्रिया से गुजरा है। पूरा कार्य स्वाभाविक है। पति पत्नी के लिए; पत्नी पति के लिए, दोनों अपनी संतान के लिए क्या-क्या नहीं करते? अपने सुखों व सुविधाओं का त्याग करते हैं। यह सब आत्मानुशासन द्वारा ही प्राप्त होता है। जितना क्षेत्र बढ़ाया जायेगा उतनी ही आत्मानुशासन की आवश्यकता पड़ेगी। यह मनुष्य की क्षमता पर है कि वह अपने इस आत्मानुशासन को अपने परिवार के लिए प्राप्त करता है या इसकी सीमा को बढ़ाकर अपने प्रेम के वृत्त को बड़ा देता है। प्रेम का वृत्त जितना बड़ा होगा, उतना ही वह मनुष्य से आत्मानुशासन की अपेक्षा रखेगा। लेकिन जो यह विश्वास करते हैं कि हमारा हृदय जितना विशाल होगा, हमारा प्रेम जितना विस्तृत होगा, उतना ही हमें आत्मिक सुख मिलेगा—उनके लिए यह अनिवार्य हो जायेगा कि अपने से या अपने स्वार्थों से दूर होते जायें। यह आत्मानुशासन तथा संयम से प्राप्त होगा। इसे गांधी जी आत्मशुद्धि कहते हैं।

गांधी जी आत्मशुद्धि के मार्ग को आसान नहीं पाते। उनके अनुसार आत्मशुद्धि का मार्ग कठिन है और ढलवान है। पूर्ण शुद्धता को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को पूरी तरह से वासनामुक्त होना पड़ता है— विचार से, वाणी से और क्रिया से। इस राग-मुक्ति को प्राप्त करने के लिए उसे प्रेम और घृणा, लगाव और विकर्षण से ऊपर उठना पड़ता है।[1]

इस आत्मसंयम की प्राप्ति के लिए गांधी जी ने पतंजलि के पांच

---

१. आत्मकथा (१९६६) पृ०, ३८२-३८३

अनुशासनों को वर्तमान के संदर्भ में पर्याप्त नही पाया है। अतः उन्होंने अहिंसा, सत्य, अस्तेय (Non-stealing) ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (Non-possession), रोटी के लिए श्रम, आस्वाद, (Control of the patale) निर्भयता, धार्मिक सहिष्णुता, स्वदेशी व अस्पृश्यता को व्रतों के रूप में प्रचारित किया। इस तथ्य पर ध्यान देना होगा कि गाधी जी विचार वाणी और कर्म तीनों का ही महत्त्व स्वीकार करते हैं। गलत विचार, गलत हैं गलत वाणी गलत वाणी है, और गलत कर्म गलत कर्म है। उपर्युक्त सारे व्रतों में इन तीनों दृष्टियों से अनुशासन रखना आवश्यक है। उदाहरणार्थ हिंसा केवल किसी जीव को कष्ट पहुँचाने अथवा उसको मारने मे ही नहीं है बल्कि घातक विचार रखने मे तथा कष्टदायी वाणी बोलने मे भी है। इसी प्रकार सत्य केवल सत्य कर्म मे ही नही है, बल्कि सत्य विचारक तथा सत्य वाचक होने मे भी है। ब्रह्मचर्य की परिभाषा देते हुए हुए गाधी जी लिखते हैं: "यह जीवन की वह विधि है जो हमे ब्रह्म (ईश्वर) तक पहुँचाती है। ब्रह्मचर्य अपने मे उत्पत्ति-प्रक्रिया के पूर्ण नियत्रण को अभिहित करता है। यह नियत्रण विचार, शब्द और कर्म में अवश्य होना चाहिए। यदि विचार सयम मे नही है तो अन्य दो कोई महत्त्व नही रखते हैं।"[1]

अस्तेय के अर्थ हैं चोरी न करना। लेकिन गाधी जी के अनुसार अस्तेय का अर्थ साधारण तरह की चोरी करना नही है। वह तो इसे इस सीमा तक ले जाते हैं कि "अगर मैं कोई ऐसी चीज लेता हूँ जिसकी कि मुझे वर्तमान में आवश्यकता नहीं है और उसे रखता हूँ तो मैं उसे किसी दूसरे से चुराता हूँ।"[2]

गाधी जी की इस अस्तेय की मान्यता को मूलध्वनि को समझना होगा। भारतवर्ष के गरीबों की हालत पर टिप्पणी करते हुए वह कहते हैं, 'भारत-वर्ष में लाखो ऐसे व्यक्ति हैं जो दिन में एक बार के भोजन पर रहते हैं, और वह खाना भी एक रोटी का होता है, बिना घी का, सिर्फ नमक छिड़का हुआ। तुम्हें और मुझे कोई अधिकार नहीं है कुछ और खाने का जब तक कि इन व्यक्तियों को अपेक्षतया अच्छा खाना नही खिलाते और कपड़े नहीं पहनाते। तुम्हें और मुझे, जिन्हें उनसे अधिक जानना चाहिए, अपनी

---

१. हरिजन ८-६-'४७, पृष्ठ १८०
२. आश्रम आब्जर्वेन्सेज इन एक्शन (१९५९), पृ० १३६

आवश्यकताओं को व्यवस्थित करना चाहिए, और यहाँ तक कि स्वयं को इच्छा से भूखा रहना चाहिए, ताकि उनको खिलाया जा सके और कपड़े पहनाये जा सकें।[1] अपरिग्रह (Non possession) अस्तेय के ही अन्तर्गत आता है। जैसे किसी को ऐसी कोई वस्तु प्राप्त नहीं करनी चाहिए, जिसकी कि उसे आवश्यकता नहीं हो। इसी तरह, उसे ऐसी किसी वस्तु का संचय नहीं करना चाहिए, जिसकी कि उसे जरूरत न हो।

अस्तेय तथा अपरिग्रह उस समानता (Equality) के आधार हैं जिसे कैसा भी 'समाजवाद' मान्यता देता है। आर्थिक समानता, तब तक नहीं आ सकती जब तक कि हर व्यक्ति अस्तेय तथा अपरिग्रह को जीवन में नहीं अपनाता। सत्य और अहिंसा में विश्वास रखने वाले का यह प्रथम कर्तव्य है कि उन आवश्यकताओं पर रोक लगाये जो दूसरों के भाग को भोगने के लिए प्रेरित करती हैं। वह संचय नहीं करे, क्योंकि उसका संचय ऐसी अनुपयोगी स्थिति पैदा करता है, कि न तो वह उसके काम में आता है जो इफरात को अपने कलेजे से लगाये रहता है और न उसका वे लोग उपयोग कर पाते हैं जिनको कि वास्तव में उसकी जरूरत है। परिग्रही की हालत उस कुत्ते की है जो नाँद में रहकर भौंकता है न खुद खाता है न भूखी गाय को खाने देता है। वर्ग तभी पैदा होते हैं जब मनुष्य में स्तेय और परिग्रह की भावना प्रधान होती है।

जीविका के लिए शारीरिक परिश्रम आवश्यक है—यह अनिवार्य है। किसी को क्यों अधिकार हो कि वह शरीर का श्रम नहीं करे, फिर भी रोटी खाये? यह भावना उस धारणा को खण्डित करती है जिसके अनुसार मानसिक तौर पर बहुतर व्यक्तियों को यह सामाजिक अधिकार दिया गया है कि वह शारीरिक परिश्रम करने वालों को हेय दृष्टि से देखें। व्यापारी कहता है मैंने पूँजी लगाई है, मैं व्यवस्था करता हूँ, इसलिए मुझे अधिकार है कि श्रमिकों को कम पैसा दूँ, अधिक लाभ मुझे मिले। यानी मजदूरों का शारीरिक श्रम उसकी दृष्टि में अपेक्षतया कम महत्त्व का है। गांधी जी इसे समाज के लिए अहितकर मानते हैं। यह समाज के लिए ही नुकसानदेह नहीं है बल्कि स्वयं शारीरिक परिश्रम न करने वाले के लिए भी अहितकर है। श्रम का महत्त्व हमें जानना होगा। इसलिए अध्यापक, वकील, डॉक्टर तथा अधिकारियों से भी गांधी जी शारीरिक श्रम तथा सेवा की आशा

---

१. आश्रम ऑब्जर्वेंसेज इन एक्शन, पृ० १३६

रखते हैं।

निर्भयता व्यक्ति के लिए वह शक्ति है जिसके बूते पर वह सत्य के अनुकूल आचरण कर सकता है। वह उसे अन्याय के विरुद्ध खड़े होने में सहायता देती है। गांधी जी के लिए नेहरू ने कहा कि उन्होंने एक 'मनोवैज्ञानिक क्रान्ति' पैदा की। जो कुछ गांधी ने किया, 'उसने इस देश के लोगों में हिम्मत, जवामरदी, अनुशासन, सहनशीलता, किसी उद्देश्य के लिए हँसते-हँसते मरने की शक्ति और इन सबसे बड़ी बात विनम्रता और आत्माभिमान जैसे गुणों को भर दिया।'[1]

यह क्रान्ति लाना आसान नहीं था। इसके लिए गुलाम और गूँगी जनता को जगाना था तथा उनमे आत्मविश्वास पूरना था। उन्होंने भारतवर्ष में घूम-घूमकर इस यथार्थ को जान लिया था कि शिक्षित भारतवर्ष डर के लकवे से घिरा हुआ है। अतः उन्होंने कहा, 'हम परिणामों से डरते हैं इसलिए सत्य कहने से डरते हैं। जो व्यक्ति ईश्वर से डरता है, वह धरती पर के किसी भी परिणाम से नहीं डरेगा।'[2]

पर अभय या निर्भयता दम्भ का भी रूप ले सकती है अतः गांधी जी ने विनम्रता पर जोर दिया। उन्होंने कहा कि वह व्यक्ति सत्य पा ही नहीं सकता जिसमे विनम्रता की अतुल चेतना न हो। सत्य के महासागर पर तैरने के लिए व्यक्ति को अपने को जीरो तक घटा देना होगा।' अहिंसा भी विनम्रता सिखाती है। गांधी जी इस विनम्रता को फिर हृदय से जोड़ते हैं, 'एक व्यक्ति कभी दूसरे के समक्ष अपने को दण्डवत् स्थिति में डाल लेगा, हालांकि उसका हृदय उसी व्यक्ति के प्रति विद्वेष से भरा होगा। यह विनम्रता नहीं है चालाकी है।'[3] सेवा-भावी को विनम्र होना ही होगा, इसके बगैर वह कोई कार्य नहीं कर सकता।

इन व्रतों के साथ गांधी जी ने स्वदेशी को, अस्पृश्यता को, प्रार्थना को तथा मौन को जोड़ा। वस्तुत: यही व्रत हैं जिनका पालन करने से मनुष्य अपनी आत्मा को शुद्ध कर सकता है व अपने पर पूर्ण नियंत्रण रख सकता है। क्या यह व्रत एक व्यक्ति का पूर्ण व्यक्तित्व नहीं बनाते? ऐसा व्यक्ति परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व के लिए कितना उपयोगी होगा इसका

---

१. बापू मेरी नजर मे : सम्पादक तो० महादेवन् प०, पृ० १२
२. आश्रम ओब्जर्वेन्सेज इन एक्शन (१९५९), पृ०१३९-४०
३. यंग इंडिया, ३१-१२-'३१, पृ० ४२८

अनुमान नहीं लगाया जा सकता। यह आदर्श मानव का रूप है। यह स्वीकार करने में कोई दिक्कत नहीं है कि इन व्रतों का पालन साधारण तथा सामान्य व्यक्ति के लिए बहुत कठिन है। हर व्यक्ति सत्याग्रही ही बने, यह आवश्यक नहीं है—स्वराज्य से पहले आवश्यक था।

ऐसा समाज जिसका हर मूल्य भौतिकता पर केन्द्रित हो गया हो और उपलब्धियाँ कीमत में नापी जाने लगी हों; परस्पर निर्भरता तराजू के पल्लों पर स्वार्थ रखकर तोली जा रही हों और सामाजिक प्रतिष्ठा का मतलब व्यक्ति की धन-सम्पन्नता रह गया हो, उसमें रहने वाले व्यक्ति को गांधी जी के व्रतों की सलाह देना असंगत लगता है। पर दूसरा विकल्प भी क्या है? गांधी जी ने वर्तमान युग की कुप्रवृत्तियों के विरुद्ध उनके तोड़ की सद्प्रवृत्तियाँ रखी हैं। यदि मनुष्य इनको अपनाता है तो वह अपने व्यक्तित्व के बिखराव को बचा सकता है। लेकिन यहाँ छूट की गुंजाइश है। आदमी इन व्रतों में निहित भावना को सम्पूर्णता में प्राप्त न भी कर सके, परन्तु जिस अंश तक प्राप्त करेगा उतना ही संयोजित व्यक्तित्व वाला बनेगा—बिल्कुल न प्राप्त करने से आंशिक प्राप्ति अच्छी है।

समाजवाद : साम्यवाद : सर्वोदय

समाजवाद एक आकर्षक धारणा है और बहुत खूबसूरत नारा है। समाज के सारे व्यक्ति बराबर की सुविधाएँ पावें; हर तरह की समानता हो; कोई नीचा न माना जाये; कोई ऊँचा न गिना जाये; न शोषक हो, न शोषित; यही समाजवाद है। सिद्धांत अथवा धारणा अपने में कितनी ही अच्छी हो, जब तक वह यथार्थ नहीं बन जाती है, बेकार है। समाजवाद नारों में नहीं है, वह तब सफल है जब समाज के हर व्यक्ति को उपलब्धि के रूप में प्राप्त हो जाये। आज वास्तविक स्थिति यह है कि जो राष्ट्र समाजवादी होने का दावा करते हैं, वहाँ भी वर्ग भेद है। जीवन के रहन-सहन में तथा उसके स्तर में अल्पविकसित राष्ट्रों के मुकाबले सुविधाओं का अन्तर हो सकता है, लेकिन उसी अनुपात में वहाँ विषमता भी है। गांधी जी इस विषमता के कारण की तरफ संकेत करते हैं। समाज में समाज थोपा नहीं जा सकता। वह एक चेतना है, जो मनुष्य के साथ कर्तव्यों को जोड़ती है और उससे त्याग की अपेक्षा करती है। मनुष्य जब तक हृदय से (अपने अन्तर से) समाजवादी नहीं बनता, उसके कर्म इस दिशा में स्वतः प्रेरित नहीं होंगे, असली समाजवाद ऊँचे अंगूरों की तरह लटकता रहेगा। यह

जीवन-विधि से प्राप्त हो सकता है। इसीलिए गांधी जी कहते हैं—समाजवाद पहले व्यक्ति पर निर्भर है जो उसे स्वीकार करता है। अगर उसने मन और कर्म से स्वीकार किया है तो उसका आंशिक मूल्य है। और अब इसके साथ दूसरे बढ़ने वाले जीरो की बढ़ोतरी से बढ़े तो क्रम चलता है दस, सौ, हजार का। लेकिन अगर पहला व्यक्ति ही वास्तव मे सही समाजवादी नही हुआ—मनसा, वाचा, कर्मणा—तो वह जीरो महत्त्व रह जायेगा आगे जितने भी जीरो बढ़ेंगे—वह दस गुना, सौ गुना न होकर जीरो महत्व के रहेंगे। अतः प्रश्न सच्चे समाजवादी होने का है, संख्या का नही है।

समाजवाद को रवे की तरह शुद्ध होना चाहिए। और ऐसा समाजवाद लाने के लिए उन साधनों को भी शुद्ध होना चाहिए जिनका उपयोग किया जा रहा है। अतः गांधी जी के अनुसार समाजवाद हृदय-परिवर्तन की अपेक्षा रखता हैं। यह हिंसा से नही, अहिंसा से प्राप्त हो सकता है। साम्यवाद, इस समाजवाद को सामूहिक रक्तपात से लाना चाहता है। वह शोषक वर्ग को समाप्त करके समाजवाद लाना चाहता है। लेकिन स्थिति यह है कि फौजी अथवा कानूनी शक्ति से लाई जाने वाली समानता, ऊपरी होती है, नाममात्र की होती है। वर्तमान साक्षी है कि साम्यवादी देशों मे यही हो रहा है। कुछ चुने हुए साम्यवादी नेताओं ने वही शक्ति और निरंकुशता ले रखी है, जो पहले राजा-शासकों को प्राप्त थी। यानी राजनीतिक शक्ति को रखने वाले तथा कथित साम्यवादी, उसी तरह के आचरण करते हैं जैसे दक्षिणी अमरीका के जमीदार नीग्रो दासो से करते थे। आतंक और नियन्त्रण असली समाजवाद को नही ला सकता। इसीलिए साम्यवादी राष्ट्रों मे तानाशाही शक्ति प्राप्त करने के लिए हर साम्यवादी नेता प्रयत्नशील रहता है। जहाँ साधन, शुद्ध होना अनिवार्य नही है, वहाँ हर षड्यंत्र जायज है। इसलिए संदेह, भ्रम, सतर्कता, साम्यवादी शासकों की बुद्धि-प्रेरक शक्तियाँ हैं। उनका लक्ष्य है शक्ति प्राप्त करना।

गांधी जी की मान्यता इस प्रकार से लाये गये समाजवाद से भिन्न है—और यह विश्वसनीय भी है। वह लिखते हैं :

इसलिए सिर्फ सत्यवादी, अहिंसक तथा हृदय से शुद्ध समाजवादी ही भारतवर्ष तथा संसार में समाजवादी समाज की स्थापना कर सकता है।[1]

गांधी जी से प्रश्न किया गया था कि वह साम्यवाद के बारे मे क्या

---

१. हरिजन १३-७-'४७, पृ० २३२

सोचते हैं ? क्या वह भारत के लिए कल्याणकारी होगा ?

गांधी जी ने इसका उत्तर इन शब्दों में दिया था 'रूस की किस्म का *साम्यवाद, अर्थात् ऐसा साम्यवाद जो मनुष्य पर लागू किया जाय, भारत के लिए प्रतिकूल होगा। मैं अहिंसक साम्यवाद में विश्वास करता हूँ।*'[1]

अतः गांधी जी ने सर्वोदय का प्रचार किया। गांधीजी ने अपने समाजवाद को सर्वोदय कहा। सर्वोदय का अर्थ है—सबका उदय। बहुसंख्यक का कल्याण नहीं, बल्कि सबका कल्याण। अधिक से अधिक भला, अधिक से अधिक संख्या का, इस सिद्धान्त को गांधी जी स्वीकार नहीं करते, क्योंकि इसमें अल्पसंख्यक का भला नहीं हो पाता और एक तरह से उनकी उपेक्षा हो जाती है। वह कहते हैं 'मैं इस सिद्धान्त पर विश्वास नहीं करता कि बहुमत का अधिक से अधिक भला किया जाये। अपने यथार्थ में इसका (सिद्धान्त का) अर्थ यह है कि ५१ प्रतिशत का अनुमानित कल्याण प्राप्त करने के लिए, ४६ प्रतिशत के हित का बलिदान किया जाय, या किया जाना चाहिए। यह हृदयहीन सिद्धान्त है और इसने मानवता को नुकसान पहुँचाया है। वास्तविक, मर्यादित तथा मानवीय सिद्धांत मात्र यह है कि सबका अधिक से अधिक कल्याण, और यह बहुत बड़े स्वार्थ-त्याग के पश्चात् ही प्राप्त किया जा सकता है।'[2]

गांधी जी ने सर्वोदय के समाजवादी विचार को प्रस्तुत करके प्रजातन्त्र तथा साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था, दोनों को ही राह दिखाई। *विषमता के* उत्पन्न होने का मूल कारण कहाँ है ? वह मनुष्य में है और उसकी भौतिकता की अतृप्त भूख में है। जब तक इस विकारी स्रोत पर मनुष्य नियंत्रण नहीं रखता, समानता नहीं आ सकती। क्या तथाकथित प्रजातांत्रिक राष्ट्र अमरीका या ब्रिटेन में विषमता दूर हो गई। बल्कि निजी क्षेत्र को स्वतन्त्रता देकर विषमता को और बढ़ाया गया है। किसी भी प्रकार के मानवीय नैतिक सिद्धान्तों को जीवन का लक्ष्य न मानकर, पाश्चात्य प्रजातांत्रिक राष्ट्रों ने जिस असमानता का पोषण किया है उसने *गरीबों और अमीरों में चोटी की ऊँचाई पैदा की है। साधारण आदमी की* आय और सम्पन्न आदमी की आय में हृदय दहलाने वाला फर्क है। लगभग यही स्थिति मजदूरों के हितैषी साम्यवादी रूस और चीन की है। वहाँ भी

---

१. हरिजन १३-२-'३७, पृ० ६
२. महादेव देसाई की डायरी (१९५३), पृ० १४९

समानता का घनघोर गर्जन है पर एक वर्ग शासक है, दूसरा गुलाम से भी बदतर। वह सिर्फ किसी मशीन का बेजान पुर्जा है, जिसको इतना भी अधिकार नही है कि अपनी असहमतियों को अभिव्यक्त कर सके।

गांधी जी के सर्वोदय में ऐसी स्थिति की गुंजाइश नहीं है। यहाँ व्यक्ति की करुणा, उसकी त्याग-भावना, उसके आत्मसंयम को जाग्रत करने का प्रयास है। इसमें न तो बहुसंख्यक का प्रश्न है न अल्पसंख्यक का। जैसे किसी परिवार में हर सदस्य की यह कोशिश होती है कि खुद बढ़े और अपने सम्बन्धियों को भी ऊपर उठाये, ऐसा ही रूप समाज का होना चाहिए। यही सर्वोदय है।

समानता को लेकर गाधी जी किसी दिवा स्वप्न मे नहीं धूमते। वह जानते हैं कि चीटी से हजार गुना भोजन की आवश्यकता हाथी को होती है। लेकिन यह असमानता का द्योतक नही है। समानता के मतलब हैं, 'हरएक को उसकी आवश्यकता के अनुसार मिले।' गांधी जी के सर्वोदय का आधार अहिंसा है। वह यह कल्पना नही करते कि कोई समय ऐसा होगा जब कोई व्यक्ति किसी से अमीर नही होगा। परन्तु वह ऐसे समय की कल्पना अवश्य करते हैं 'जब अमीर अपने को गरीब के मूल्य पर धनवान बनाने से घृणा करेगा और गरीब अमीरों से ईर्ष्या करना बन्द कर देगा। यहाँ तक कि पूर्ण विश्व मे भी हम विषमता को हटाने में असफल रहेंगे, लेकिन हम झगडे और कड़वाहट को बचा सकते हैं--बचाया जाना चाहिए।'[1]

सर्वोदय के अन्तर्गत गाधी जी की आर्थिक मान्यताओ पर विचार करना चाहेंगे। गाधी जी मनुष्य की क्रियाओं को टुकडो मे करके नही देखते। किसी की एक क्रिया का सम्बन्ध बहुमुखी तथा बहुक्षेत्रीय होता है। इसी धारणा को पुष्ट करते हुए गाधी जी कहते हैं, 'मनुष्य की सारी क्रियाओं का विस्तार एक अखंड पूर्णता बनाता है। हम सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा शुद्ध धार्मिक कार्य को संकीर्ण वृत्तो मे विभाजित नही कर सकते।'[2]

इसका अर्थ है कि मनुष्य खुद भी विषयवार विभाजित नही है; वह एक पूर्ण व्यक्ति है। अतः उसकी एक क्रिया भिन्न-भिन्न मूल्यो से सम्बन्धित हो

---

१. यंग इंडिया, ६-१०-'२६, पृ० ३४८
२. हरिजन, २४-१२-'३८, पृ० ३९३

जाती है। इसीलिए गांधी जी अर्थशास्त्र को नैतिक शास्त्र से पृथक् नहीं करना चाहते। उनकी दृष्टि में ऐसा अर्थशास्त्र जो किसी एक व्यक्ति अथवा राष्ट्र के नैतिक मंगल को क्षति पहुँचाता है वह अनैतिक है, पापपूर्ण है।

इतिहास इस सत्य का साक्षी है कि सम्पन्न राष्ट्रों ने अपनी आर्थिक एवं व्यापारिक नीतियों के कारण न केवल विवशों का शोषण किया है बल्कि उनकी नैतिक क्षति की है। इसलिए गांधी जी के अनुसार जो अर्थशास्त्र एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र पर शिकारी की तरह जीने की स्वीकृति देता है वह अनैतिक है।[1]

गांधी जी की आर्थिक धारणा में दीनों का उत्थान प्रमुख है। भारत के संदर्भ में उनका ध्यान गाँवों पर केन्द्रित है। उनके सामने ब्रिटिश साम्राज्य की व्यापारिक नीतियाँ थीं जिसने गाँव के कुटीर उद्योगों को समाप्तप्राय कर दिया था। परिणामतः गरीब की हालत बद से बदतर हो गई थी। जब उन्होंने घने औद्योगीकरण का विरोध किया और विकेन्द्रित अर्थनीति का समर्थन किया, तथा गाँव को स्वावलम्बी बनाने का प्रस्ताव रखा तब उनके मस्तिष्क में उसी विषमता को हटाने की उत्कट कामना थी जो भारतवर्ष में पनप रही थी। इसके बगैर सर्वोदय संभव नहीं था। गांधी जी ने विकेन्द्रित अर्थनीति के औचित्य पर जोर देते हुए लिखा था, 'साध्य, जिसे कि खोजना है वह है मनुष्य की खुशी जोकि उसके पूर्ण मानसिक तथा नैतिक विकास से संयुक्त हो। मैं इस नैतिक विशेषण को आध्यात्मिकता के पर्याय के रूप में प्रयोग करता हूँ। यह साध्य विकेन्द्रित (अर्थनीति) से ही संभव है।'[2]

गांधी जी जब स्वावलम्बन की बात करते हैं तब उनका यह अभिप्राय कभी नहीं है कि सहकारी भावना को तिलांजलि दे दी जावे। परस्पर निर्भरता भी उतना ही महत्वपूर्ण आदर्श है जितना स्वावलम्बन क्योंकि यह भावना व्यक्ति के शुद्ध चरित्र की अपेक्षा रखती है। मनुष्य को सहकारी भाव से रहना चाहिए और सबकी भलाई के लिए कार्य करना चाहिए। बूँदों का एकाकी अस्तित्व क्षण-जीवी है परन्तु वे सहकारी होकर महासागर बनाती हैं जो अपनी छाती पर से शिकारी पुर्तों को गुजार देता है। लेकिन सहकारी भावना मात्र विचार से नहीं आती है, यह सद् चरित्र की

---

१. यंग इंडिया, १३-१०-'२१, पृ० ३२५
२. हरिजन, १८-१-'४२, पृ० ५

अपेक्षा रखती है। इसीलिए गांधी जी सिद्धान्त वाक्य देते हैं, 'चरित्र के बगैर सहकारी भावना नहीं हो सकती।'[1]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि गाधी जी का सर्वोदय तथा उनकी आर्थिक मान्यताएँ उस नैतिकता पर आधारित हैं जिनका अन्तिम परिणाम स्थायी फल देता है और ऐसे समाज का निर्माण करता है जो स्वभाव में निष्संघर्ष है।

व्यक्ति और समाज की इसी चारित्रिक शुद्धि की कल्पना करके गाधी जी ने 'ट्रस्टीशिप' की धारणा को प्रस्तुत किया। ट्रस्टीशिप की धारणा के आधार में संरक्षण भाव है अर्थात् सम्पन्न व्यक्ति अपनी पूंजी को अपनी न समझकर समाज की समझे। वह उससे अपने मोह को न बांधकर तटस्थ रहे। वह यह समझे कि मैं इस धन का मात्र संरक्षक हूँ। गाधी जी ने इस धारणा को इन शब्दों में प्रस्तुत किया है: 'मुझे यह अवश्य जानना चाहिए कि मुझे उतना ही धन अपना समझना चाहिए जितने की मुझे आदरपूर्ण जीवन बिताने के लिए आवश्यकता है। शेष धन (चाहे मैंने उसे व्यापार से कमाया हो अथवा मुझे वह पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुआ हो) समाज का है और वह समाज के कल्याण में ही लगना चाहिए।

गांधी जी पूँजीवाद को न तो हिंसा से समाप्त करना चाहते हैं, न ही वह इस पक्ष में है कि राज्य दमन से पूँजीवाद को समाप्त करे। वह कहते हैं, 'मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि अगर राज्य पूँजीवाद को हिंसा द्वारा दमित करता है तो वह स्वयं हिंसा की बुराइयों में फँस जावेगा। और किसी भी समय अहिंसा को विकसित करने में असमर्थ रहेगा।'[2]

गाधी जी यह स्वीकार करते हैं कि यदि सम्पन्न लोग अपनी स्वतः की इच्छा से ट्रस्टीशिप स्वीकार नहीं करेंगे तो निश्चित रूप से उन्हें वर्ग-संघर्ष का सामना करना पड़ेगा। वह यह भी कल्पना करते हैं कि हो सकता है सम्पत्ति को रखने वाला वर्ग स्वतः ट्रस्टीशिप को स्वीकार न करे। ऐसी स्थिति में उसको सामाजिक इच्छा के दबाव के माध्यम से प्रभावित करना चाहिए। इस प्रकार का वातावरण उत्पन्न होना चाहिए जो सम्पन्न व्यक्तियों को विवश कर दे कि वह ट्रस्टीशिप की भावना को स्वीकार

---

१. स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ महात्मा गाधी, चतुर्थ संस्करण, पृ० ३५६
२. माडर्न रिव्यू, १९३५, पृ० ४१२

करें। ध्यातव्य है कि गांधी जी इस विश्वास को पैदा करने के लिए अहिंसक साधनों का ही समर्थन करते हैं।

राजनीति, धर्म और प्रजातन्त्र

कूटनीति और स्वस्थ राजनीति में अन्तर है। एक में साध्य को प्राप्त करने के लिए कैसे भी साधन को अपनाया जा सकता है परन्तु दूसरे में साधन का भी शुद्ध होना अनिवार्य है। गांधी जी जिस प्रकार से व्यक्ति के *जीवन को एक 'असण्ड पूर्ण' (सांगिक) मानते हैं उसी प्रकार राष्ट्र के* जीवन को भी 'अखण्ड पूर्ण' (सांगिक) मानते हैं। अर्थात् राष्ट्र का भी एक व्यक्तित्व होता है जो तभी पूर्णता को प्राप्त कर सकता है जब सद्गुणों को अंगीकार करे। राजनीति राष्ट्र की नियामक होती है। इसकी सद्नीतियाँ और स्वस्थ उद्देश्य जनता के कल्याण के उत्पादक होते हैं। इसीलिए राजनीति को अकलुष तथा सद्चरित्र होना चाहिए। गांधी जी स्पष्ट शब्दों में कहते हैं, 'मेरे लिए धर्म से विरहित कोई राजनीति नहीं है।··· नैतिकताहीन राजनीति से बचना चाहिए।' यह ध्यान रखना है कि जब गांधी जी राजनीति में नैतिकता की बात करते हैं तब उनका मन्तव्य ऐसी सत्य-पोषित नीतियों से होता है जिनमें किसी प्रकार का छल अथवा कपट न हो। और इसीलिए उन्होंने स्वीकार भी किया कि वह राजनीति में इसीलिए सक्रिय रहे, क्योंकि वह उन्हें धर्म तक पहुँचाने का माध्यम थी।

गांधीजी ने अपनी इसी धारणा के कारण सत्याग्रह, असहयोग तथा धरना जैसे साधन दिये, जिनसे कि अन्याय का विरोध भी किया जा सकता है, परन्तु बिना किसी दुर्भावना के अथवा अरिभाव के। अन्याय के विरोध के यह अहिंसात्मक एवं निर्भीक तरीके युग के लिए सर्वथा नवीन थे लेकिन इसके महत्त्व व उपयोगिता को सारे विश्व ने स्वीकार किया। इन साधनों की प्रथम शर्त है चारित्रिक शुद्धता एवं आत्मबल। ईर्ष्या-मुक्त प्रेम, तथा कष्टसहिष्णुता में वह क्षमता होती है कि कठोर से कठोर हृदय वाले अन्यायी को भी पक्ष में ले आये। गांधी जी की राजनीति हृदय-परिवर्तन में विश्वास करती है।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता को गांधी जी ने अवश्य महत्त्व दिया, पर उसे मर्यादाओं में बाँधा। व्यक्ति की स्वतन्त्रता को क्योंकि गांधी जी अत्यन्त महत्त्व देते थे, अतः उन्होंने साम्यवादी शासन विधि का विरोध किया। इसकी अपेक्षा उन्होंने प्रजातन्त्र की शासन-प्रणाली को ज्यादा कल्याणकारी

माना। साम्यवादी शासन प्रणाली में व्यक्ति का महत्त्व नहीं है, उसे कतई स्वतन्त्रता नहीं है। वह अंकुशों से दबा हुआ है जिसे सिर्फ वही करना है, जैसा उसे करने को कहा जाये। उन्होंने स्पष्ट कहा कि कोई भी समाज व्यक्ति के स्वतन्त्र्य को नकार कर नहीं बन सकता। यह मनुष्य के मूल स्वभाव के विपरीत है।[1]

व्यक्ति की स्वतन्त्रता को महत्त्व देने के कारण गांधी जी प्रजातन्त्र को संसार की सर्वश्रेष्ठ वस्तु मानते हैं; लेकिन यह प्रजातन्त्र अनुशासित और उदात्त होना चाहिए। इस प्रजातन्त्र के अन्तर्गत कमज़ोर से कमज़ोर व्यक्ति को भी उतने ही सुअवसर प्राप्त होने चाहिए जितने मज़बूत से मज़बूत व्यक्ति को।[2]

प्रजातन्त्र के सार तत्त्व का वर्णन करते हुए गांधी जी कहते हैं, 'तत्त्वतः प्रजातन्त्र का अर्थ है वह कला और विज्ञान जो व्यक्ति के विभिन्न वर्गों के शारीरिक, आर्थिक एवं आध्यात्मिक स्रोतों को गतिमान कर सबके सामान्य कल्याण में लगा सके।[3]

प्रजातन्त्र को क्योंकि गांधी जी बहुमत का स्वराज्य मानते है अतः वह यह नहीं चाहते कि राज्य में शक्ति का केन्द्रीकरण हो। वह शासन तथा शक्ति के विकेन्द्रीकरण के पक्षपाती हैं। इसीलिए उन्होंने सात सौ हज़ार भारत के गांवों में शासन शक्ति को विकेन्द्रित करना चाहा। इस विकेन्द्रीकरण के अन्तर्गत उन्होंने ग्राम पंचायतों का समर्थन किया। उन्होंने कहा, 'भारतवर्ष के वास्तविक प्रजातन्त्र में गाँव ही इकाई हो सकती है।'[4]

गांधी जी ने भविष्य के भारत का स्वप्न देखते हुए यह कल्पना की थी कि वह ऐसे भारतवर्ष का निर्माण करेंगे जिसमें गरीब से गरीब भी यह अनुभव करेंगे कि यह उनका देश है जिसको कि बनाने में उनकी प्रभावशाली आवाज़ होगी, ऐसा भारतवर्ष जिसमे ऊँचे और नीचे लोगों का वर्ग नहीं होगा, ऐसा भारतवर्ष जिसमे सारे समुदाय पूर्ण सस्वरता मे रहेंगे।[5]

लेकिन उनकी कल्पना का ऐसा भारतवर्ष नहीं पा रहा है। यह देखना

---

१. हरिजन, १-२-'४२, पृ० २७
२. महात्मा गांधी, वॉल्यूम ५ (१९५२), पृ० ३४३
३. हरिजन, २७-५-'३९, पृ० १४३
४. हरिजन, १८-१-'४८, पृ० ५१९
५. यंग इंडिया, १०-९-'३१, पृ० ३५५

होगा कि हम कहाँ फिसल गए ? उन्होंने संसदीय प्रजातन्त्र का समर्थन किया था। उन्होंने स्वतन्त्रता अथवा स्वराज्य की कल्पना की थी तो उसके साथ यह भी माना था कि वास्तविक स्वतन्त्रता सिर्फ अंग्रेजी साम्राज्य के चले जाने में नहीं है। उसका अर्थ औसत गाँव वाले की उस चेतना से है कि वह अपने भाग्य का निर्माता है, वह अपने चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से खुद अपना विधायक है।[1]

पर निर्वाचित विधायक सिर्फ कानून तथा योजना बनाने वाले नहीं होंगे, वे जनता के निर्देशक नहीं होंगे, बल्कि जनता उनकी निर्देशक होगी।

विधान सभाओं तथा संसद में कैसे प्रतिनिधि जायें ? गांधी जी ने इस बारे में स्पष्ट कहा है, 'मैं चरित्रहीन व्यक्ति द्वारा उच्च स्तर की राष्ट्रीय सेवा किया जाना असम्भव मानता हूँ, इसलिए, अगर मैं सूची में से मतदाता होऊँ, तो पहले मैं चरित्रवान् व्यक्तियों को छाँटूँगा, फिर उनके विचारों को जानूँगा।'[2]

अतः स्पष्ट है कि गांधी जी ने ऐसे संसद सदस्यों एवं विधायकों की अपेक्षा की जो चरित्रवान् हों, जो जनता के प्रतिनिधि हों, परन्तु अपना निर्देशक जनता को मानें। मंत्री ऐसे हों जिनका व्यक्तिगत जीवन इतना सादा हो कि वह आदर तथा श्रद्धा को प्रेरित करें; वह बँगलों और कारों का बहुत जरूरी हालतों में ही उपयोग करें; उनका कमरा महँगे विदेशी फर्नीचर से न सजा हो, खासकर तब, जबकि उनके देश के करोड़ों वासियों के पास बैठने के लिए दरी न हो, और यहाँ तक कि उनके पास पहनने को कपड़ा न हो।

गांधी जी के उपर्युक्त विचारों की पृष्ठभूमि में हम वर्तमान राज-नीतिक दशा की तुलना कर सकते हैं, और तब हमें कारण खोजने में कठिनाई नहीं होगी कि हम कहाँ फिसले ? क्यों गांधी जी के कल्पना का भारत महज स्वप्न होकर रह गया !!!

आधुनिक सभ्यता एवं संस्कृति

जीवन सभ्यता एवं संस्कृति का प्रतिबिम्ब है। हमारे यहाँ पहले जीवन की बुनियाद आत्मसंयम पर आधारित थी; आज हमने भोग को सभ्यता

---

१. यंग इंडिया, १३-२-'३०, पृ० ५२
२. यंग इंडिया, १-९'२०, पृ० ७

तथा संस्कृति क्षाद्योतक मान लिया है। गांधी जी ने पाश्चात्य भौतिक सभ्यता की तरफ हमारा ध्यान आकृष्ट करके उसके विकारी प्रभावों को बताया। उन्होंने यह बताना चाहा कि किस तरह योरोप का व्यक्ति आधुनिक सभ्यता की एड़ी के नीचे दबा कराह रहा है।

उन्होंने आधुनिक सभ्यता एवं संस्कृति की अति भौतिकता को पूरी तरह से अस्वीकृत किया। उन्होंने लिखा: 'मैंने आधुनिक सभ्यता को पूरी तरह बेकार घोषित करने का साहस किया है, क्योंकि मैं यह मानता हूँ कि इसकी आत्मा बुरी है।'[1] उनकी दृष्टि में पाश्चात्य सभ्यता ध्वंसात्मक है, पूर्वी सभ्यता रचनात्मक है। पाश्चात्य सभ्यता मूल केन्द्र से च्युत होने वाली है, पूर्वी सभ्यता मूल केन्द्र पर अवस्थित होने वाली है। अतः गांधी जी जब अति के औद्योगीकरण, विज्ञान के संहारक स्वभाव, तथा अति-भौतिकता की प्रवृति को हानिकारक घोषित करते हैं तो वह शतशः सही हैं। यह सारी प्रवृत्तियाँ मानव विकास में अवरोधक हैं—घातक रूप से नाशक हैं। विश्व के सशक्त राष्ट्र इस अति का परिणाम भुगत रहे हैं। वहाँ का व्यक्ति अपनी ही प्रगति के शून्य को अनुभव कर रहा है, और वह जान रहा है कि उसकी थाती एक ऐसा ध्वस्त, मूल्यहीन जीवन है जिसमे वह खुद आत्महीन मशीन बन गया है। मानव कल्याण के नाम मे उसे जो कुछ भी प्राप्त हो रहा है वह उसके व्यक्तित्व को संयोजित करने के बजाय बेजोड़ टुकड़ों का अन्दर से रिक्त खिलौना मात्र बना रहा है—उत्साहहीन, आन्तरिक विकलता से भरा, चाभी का खिलौना।

गांधी जी ने विश्व की इस स्थिति पर चिन्ता व्यक्त की। मनुष्य जितना इस समय भविष्य के बारे मे चिन्तित है उतना कभी नहीं हुआ। क्या संसार हमेशा हिंसात्मक ही रहेगा? क्या विषमता और विभेद इसी उत्कटता से रहेंगे? क्या समाज में कभी शान्ति का वास नहीं होगा और विश्व का मनुष्य स्थायी अशान्ति मे जियेगा?

परन्तु गांधी जी को विश्वास है कि यदि अहिंसा को मूल्य माना गया, समानता को वितरण का आधार माना गया, सही धर्म पर आस्था रखकर मनुष्य मे आत्म-शुद्धता विकसित हो, इसके लिए ऐसा वातावरण उत्पन्न किया गया—जो कि प्रेम के विस्तार से प्राप्त हो सकता है - तथा ईश्वर की सत्ता में श्रद्धा तथा विश्वास रखा गया तभी विश्व सही भविष्य को

---

१. द सलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, वॉल्यूम १०, पृ० २४७

पा सकता है। गांधी जी ने कल के विश्व का एक सम्भावित चित्र खींचा है, जो काल्पनिक होकर भी प्रेरक है। वह लिखते हैं :

कल के विश्व में मैं गरीबी, महायुद्ध, विद्रोह और रक्तपात नहीं देखता हूँ। और ऐसे विश्व में ईश्वर पर विश्वास होगा —इतना बड़ा और गहरा जितना अतीत में कभी नहीं रहा। विस्तृत अर्थ में विश्व का अस्तित्व ही धर्म पर आधारित है। इसको उच्छेदित करने के सारे प्रयत्न असफल होंगे।[1]

हम गांधी जी के धर्म तथा ईश्वर का अन्यत्र वर्णन कर चुके हैं, अतः अस्तु।

राष्ट्रीयता : अन्तर्राष्ट्रीयता

बर्ट्रेण्ड रसेल जैसे मान्य पाश्चात्य विचारक ने राष्ट्रीयता को आधुनिक युग की सबसे खतरनाक व्याधि बताया है।[2] राष्ट्रीयता व्यक्ति को संकुचित बनाती है, और उसके हृदय को विशाल होने से रोकती है। देश प्रेम, अथवा मातृभूमि का प्रेम अगर किसी राष्ट्र के मनुष्यों में कूपमंडूकता को पोषित करता है तो इससे अधिक क्षतिकारी कुछ नहीं हो सकता। वर्तमान में जबकि राष्ट्रों की परस्पर निर्भरता अनिवार्य आवश्यकता है, कोई भी राष्ट्र अन्य राष्ट्रों से अपने को अलग नहीं रख सकता। अतः राष्ट्रीयता को अन्तर्राष्ट्रीयता के पक्ष में सहिष्णु होना पड़ेगा। इस सत्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि चालाक राजनितिज्ञों ने राष्ट्रीय प्रेम का, सीमातीत कु-उपयोग किया है। युद्ध में लड़ने वाले सैनिकों को राष्ट्र-भक्ति का घूंट पिलाकर इस हद तक उन्मादित किया जाता है कि वह अपना कर्तव्य मनुष्यों की जान लेना समझते हैं। यदि राष्ट्रीयता का मतलब है पशुतुल्य बनकर हृदयहीन मानव संहार करना, तो कदाचित् इससे निकृष्ट भावुकता (Sentiment) अन्य कोई नहीं हो सकती।

गांधी जी की राष्ट्रीयता की भावना में हमें ऐसा कुछ प्राप्त नहीं होता। उनके अनुसार राष्ट्रीयता वह सोपान है जिसके द्वारा हम मानवता की सेवा के उदात्त स्तर को प्राप्त करते हैं। उनकी मान्यता है कि, 'किसी

---

१. द माइंड ऑफ महात्मा गांधी (१९६७), पृ० ४६०

२. Nationalism is undoubtedly the most dengerous vice of our time—Education and socialorder. P. 138

के भी लिए अन्तर्राष्ट्रीयतावादी होना, बिना राष्ट्रीयतावादी हुए असम्भव है। अन्तर्राष्ट्रीयता सिर्फ तभी सम्भव है जब राष्ट्रीयता यथार्थ सत्य बन जाय, अर्थात् जब भिन्न-भिन्न देशों के व्यक्तियों ने अपने को एक कर लिया हो, और इस योग्य हो गये हों कि इस तरह कार्य करें जैसे एक मनुष्य हो।' गांधी जी आगे स्पष्ट करते हैं कि 'यह राष्ट्रीयता नहीं है जो बुराई है, यह संकीर्णता, स्वार्थपरता, पूर्ण भावना है जो आधुनिक राष्ट्रों के लिए कलक है और जो कि बुराई है। हरएक, दूसरे के अहित पर, तथा दूसरे के नाश पर, लाभ उठाना व अपने को विकसित करना चाहता है।'[1]

यद्यपि गांधी जी, ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध स्वराज्य के लिए संघर्ष कर रहे थे, लेकिन उन्होंने अपनी देशभक्ति को भारत के हित तक ही सीमित नहीं रखा था। उन्होंने कहा, 'मेरे लिए देशभक्ति वैसी ही है जैसे मानववादिता। मैं देशभक्त इसलिए हूँ क्योंकि मैं मनुष्य हूँ और मानवीय हूँ।'[2]

अतः स्पष्ट है कि गांधीजी की देशभक्ति संकीर्ण तथा स्वार्थपरक नहीं है। उन्होंने प्राथमिकता भारतवर्ष की स्वतन्त्रता को दी। उन्होंने यह आशा व्यक्त की कि भारतवर्ष की स्वतन्त्रता के माध्यम से वह 'बंधुत्व' प्राप्त करेंगे, तथा इसका प्रचार करेंगे। उन्होंने निर्भीक विश्वास के साथ कहा है, 'मेरी देशभक्ति कोई अपने मे पूर्ण चीज नहीं है। यह सबको आलिंगित करती है और मैं उस देशभक्ति को अस्वीकार करूँगा जो दूसरों की तकलीफों या दूसरे राष्ट्रों के शोषण पर उठने को खोजे।'[3]

वस्तुतः राष्ट्रीयता जब कुरूप हो जाती है, तब वह स्वार्थ में अंधी होकर दूसरे राष्ट्रों का शोषण करने लगती है। भारतवर्ष मे ब्रिटिश शासन के स्वामिभक्ति अंग्रेजो ने, अपनी दृष्टि से राष्ट्र-प्रेम का ही सबूत दिया। लेकिन ऐसी राष्ट्रीयता, जो एक-दूसरे राष्ट्र को दरिद्र बनाकर उसके रक्त की अन्तिम बूँद तक का पान करने को उत्सुक हो, वह राष्ट्रीयता नहीं पाशविकता है। यही कारण था कि ब्रिटिश राज्य के हित में नीति-अनीति को अपनाने वाले वारेन हेस्टिंग्ज को अपने ही देश की ससद में घोर आरोपो का सामना करना पड़ा था, और मानवीयता के नाम पर उसके कृत्यो को

---

१. यंग इंडिया, १८-६-'२५, पृ० २११
२. यंग इंडिया, १६-३-'२१, पृ० ८१
३. यंग इंडिया ४-४-'२६, पृ० १०७

निर्ममतापूर्वक अनैतिक शोषित किया गया था। अगर यही चेतना स्थायी रूप से भारत शासन की निर्देशिका होती तो एक विकृत राष्ट्रीयता का रूप हमारे समक्ष नहीं आता।

गांधी जी के विचारों की महत्ता इस दृष्टि से अद्भुत है। उन्होंने सन् ३१ में यंग इंडिया में लिखा था :

हमारी राष्ट्रवादिता दूसरे राष्ट्रों के लिए कष्टप्रद नहीं हो सकती, जितने में कि हम किसी का शोषण नहीं करेंगे, ठीक जैसे कि हम किसी को भी स्वीकृति नहीं देंगे कि वह हमारा शोषण करे। स्वराज्य के माध्यम से हम सारे संसार की सेवा करेंगे।[1]

अतः यह प्रश्न उठाना त्रुटिपूर्ण है कि क्या राष्ट्रीयता आज के युग में स्वस्थ भावना है। अच्छी से अच्छी और स्वस्थ भावना भी जब संकीर्णता अथवा अंधविश्वास के काले कपड़े में लिपट जाती है तब वह अपनी वास्तविक आत्मा का शोक मनाती होती है। लगभग यही स्थिति राष्ट्रीयता की है। परन्तु गांधी जी ने भारतवर्ष का हवाला देकर राष्ट्रीयता के उदात्ततम आदर्श की झलक दिखाने का प्रयास किया है। वह लिखते हैं :

इसलिए, राष्ट्रवादिता के प्रति मेरा प्रेम, या मेरा राष्ट्रवादिता के लिए यह विचार है, कि मेरा देश स्वतंत्र हो जाये, कि अगर आवश्यकता पड़े तो पूरा राष्ट्र मर जाये, इसलिए कि मानव जाति जीवित रह सके।[2]

अहिंसा, प्रेम, त्याग एवं सेवा को जीवन, राष्ट्र तथा विश्व के लिए एक-सा महत्त्वपूर्ण मानने वाले गांधी जी ही राष्ट्रीयता की इतनी नैतिक तथा मानवीय व्याख्या प्रस्तुत कर सकते थे।

विश्वबंधुत्व : शस्त्रीकरण : निःशस्त्रीकरण

आश्चर्यजनक यथार्थ है कि वैज्ञानिक प्रगति, प्राविधिक विकास के पश्चात् भी ऊपर से पूर्णतया सम्पन्न दीखने वाले राष्ट्र अब तक इस प्रकार के वातावरण को नहीं ला पाये जिसमें मनुष्य जाति शान्ति की साँस ले सके। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् ऐसी संस्था का निर्माण किया गया, जिससे यह अपेक्षा रखी गई कि एक बार सारे बड़े तथा शक्तिशाली राष्ट्र मिलकर समझ तथा इमानदारी से काम लेंगे और युद्ध के सर्वनाशक परिणाम को

---

१. यंग इंडिया, १६-४-'३१, पृ० ७६
२. गांधी जी इन इण्डियन विलेज (१६२७), पृ० १७०

जानकर भविष्य के लिए सतर्क हो जाएँगे। लेकिन ऐसा नहीं हो पाया।[1] दूसरा विश्वयुद्ध फिर छिड़ गया। यह युद्ध पहले से अधिक भयानक था, क्योंकि अमरीका ने जापान के हिरोशिमा तथा नागासाकी पर एटमबम गिराकर उसे तहस-नहस कर दिया था। एटमबम के प्रयोग ने मानवता को इस किनारे पर ला पटका कि उसे सोचना पड़ गया कि क्या इतने खतरनाक मारक अस्त्र के बाद भी मानवजाति के बचे रहने की सम्भावना रह गई है? परिणामस्वरूप संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई। आज भी अमरीका तथा रूस जैसे शक्ति-सम्पन्न राष्ट्र शान्ति की पुकार करते हैं, परन्तु मौखिक उच्चारण तथा सैद्धांतिक प्रचार के बावजूद भी युद्ध की सम्भावना पूर्ण रूप से टली नहीं है।[2] हंगरी, हंगरी के बाद चैकोस्लोवाकिया की स्वतन्त्रता का हनन; वियतनाम का युद्ध, मध्य एशिया की अशान्ति इस सत्य के प्रमाण हैं कि विश्वयुद्ध कभी भी छिड़ सकता है—यद्यपि यह सम्भावना ही है, आवश्यक नहीं है कि ऐसा हो ही।

इसके मूल में भय, सदेह तथा शस्त्र उत्पादन की अतृप्त लालसा है। इस संदर्भ में हिंसा तथा सीमा-विस्तार में विश्वास करने वाले साम्यवादी चीन को नही भुलाया जा सकता। एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है—क्या किसी भी राष्ट्र का सामान्य तथा साधारण व्यक्ति युद्ध को चाहता है? सही उत्तर यही होगा कि 'नहीं'। युद्ध एक ऐसी घातक अवस्था है जिसके पैरों में नाश लिपटा होता है और जब वह छिड़ता है तो हजारों-लाखों का वध होता है और राष्ट्रों का आर्थिक संतुलन छिन्न-भिन्न हो जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम उन कारणों को देखें जिनके कारण यह संदेहयुक्त स्थिति बनी हुई है।

गाधी जी ने औद्योगीकरण तथा व्यापार को इसका बुनियादी कारण बताया है। उन्होंने लिखा : औद्योगीकरण, मुझे भय है, मानवता के लिए अभिशाप होने जा रहा है। एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का शोषण ज्यादा

---

१. One great weakness of the league of Nations was its attempt to preserve the status quo. War or Peace John Foster Dulles. (Special students edition) P. 19
2. neither voice nor pen can portray the awful horror of Worldwar III, war or peace j F. Dulls. p. 3

समय तक नहीं चल सकता।"[1] उन्होंने इसी विचार को दूसरे रूप में इन शब्दों में रखा है :

आज नागरिकता की सुरक्षा, राष्ट्रीय व्यापार की सुरक्षा है, अर्थात् शोषण। और कि यह शोषण शक्ति के प्रयोग की पूर्व कल्पना रखता है— अनिच्छुक व्यक्तियों पर व्यापार के लादे जाने की। एक तरह से राष्ट्र, इसलिए, लगभग डाकुओं के जत्थे बन गये हैं, जब कि इन्हें स्त्री और पुरुषों का शान्तिमय संगम होना चाहिए जो कि मानवता की भलाई के लिए एक हों। दूसरी स्थिति में, उनकी कौशलता बंदूक की बारूद के कौशलपूर्ण प्रयोग मे नहीं होगी, बल्कि उच्चकोटि के नैतिक तन्तुओं के आधिपत्य में होगी।[2]

राष्ट्रों के व्यापारिक स्वार्थ, इफरात से उत्पादित माल के लिए बाजार ढूंढ़ना अनेक कारणों मे से एक कारण है, जिसकी वजह से बड़े राष्ट्र अल्प-विकसित राष्ट्रों को अपने प्रभाव में रखना चाहते हैं।

दूसरा कारण मान्यताओं का हो सकता है। रूस तथा अन्य साम्यवादी देश मित्र राष्ट्रों को पूँजीवादी कहकर ऐसे अनन्त विवाद को पनपाये हुए हैं, जिसका कि यथार्थ स्थिति से सीधा सम्बन्ध नहीं है। मनुष्य की स्वतन्त्रता का पक्ष लेकर मित्र राष्ट्र साम्यवादी देशों पर सीधा दोषारोपण करते हैं कि उनकी शासन-व्यवस्था में मनुष्य का कोई मूल्य नहीं है—उन्हें अपनी नीतियों द्वारा साम्यवादी पार्टी भेड़ों की तरह हाँकती है। साम्यवादियों का दोषारोपण है कि पूँजीवादी देश मजदूर और किसानों का शोषण करते हैं तथा अपनी सम्पन्नता के लिए उनको जीने का हक तक नहीं देते हैं। विचारधाराओं के संघर्ष से यदि हटकर देखा जाये तो विषमता साम्यवादी देशों में भी उतनी ही है जितनी प्रजातांत्रिक पूँजीवादी मित्र राष्ट्रों में।

महात्मा गांधी ने वर्ग संघर्ष के सम्बन्ध मे तथा मार्क्स की विचारधारा का उत्तर देते हुए लिखा :

संघर्ष को समाप्त करने के लिए हमें कुछ ज्यादा करना है। हमें स्वामित्व और लालसा और विषयकामना और अहंभाव को अपने हृदय से उच्छेदित करना होगा।[3]

गांधीजी हिंसा से पूँजीवाद को समाप्त नहीं करना चाहते। अहिंसा

---

१. यंग इंडिया १२-११-'३१, पृ० ३५५
२. यंग इंडिया २१-१०-'२६, पृ० ३६६
३. महात्मा गांधी—द लास्ट फेज, वॉल्यूम ७ (१९५८), पृ० १२६

द्वारा हम पूँजीवादी को समाप्त नहीं करना चाहते, हम पूँजीवाद को समाप्त करना चाहते हैं।

'विश्व बंधुत्व' की जड़ों को हिलाने वाली, शस्त्रों का उत्पादन करने वाली होड़ है। रूस तथा अमरीका के बीच यह होड़ तीव्रतम है। मूल प्रश्न ज्यों का त्यों है कि क्या अशुद्ध साधनों से शुद्ध लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है? विश्व में शान्ति स्थापित करने के लिए संहारक शस्त्रों का उत्पादन; उन पर राष्ट्रीय आय का एक बहुत बड़ा प्रतिशत खर्च किया जाना तथा परस्पर भय से प्रेरित होकर संहारक शस्त्रों की इस होड़ को प्रखरतम करते जाना, क्या रोग का सही निदान है? हिंसा की तैयारी में विश्व-शान्ति की आशा करना बबूल के वृक्ष पर गुलाब के फूलों की आशा करना जैसा है। यह नहीं भूलना चाहिए कि शक्ति सम्पन्नता अथवा मारक शस्त्रों का होना इस खतरे को हर वक्त बनाये रहता है कि किसी भी समय उसका उपयोग किया जा सकता है। सम्भव है कि विनाशक बमों की ध्वसात्मक शक्ति से संसार इतना ऊबता जाये कि अहिंसा को स्वीकार करे। लेकिन गांधीजी का विचार इस सम्बन्ध में ध्यातव्य है: 'ठीक इसी प्रकार अहिंसा से ऊबकर क्या संसार दुगने साहस से हिंसा की तरफ नहीं बढ़ेगा।' गांधी जी एटम बम के प्रयोग को विज्ञान का पैशाचिक प्रयोग कहते हैं।

अतः इस समस्या का हल निःशस्त्रीकरण में है। गाधी जी की मान्यता है कि योरोप में निःशस्त्रीकरण होना चाहिए मगर योरोप आत्महत्या नहीं करना चाहता। वह लिखते हैं:

अगर शस्त्रों की यह पागल होड़ जारी रहती है, तो यह अवश्य ऐसा हत्याकांड घटित करेगी, जैसा इतिहास में कभी घटित नहीं हुआ है। अगर विजय प्राप्त होती भी है, तो वही विजयी जीवित मृतक होगा उस राष्ट्र के लिए जो विजयी होगा। समीप के इस दुर्भाग्य से बचाव नहीं है; सिवाय साहसपूर्ण, बिना शर्त के अहिंसक विधि को उसके देदीप्यमान प्रभावों के साथ स्वीकार करने के।'[1]

गांधीजी का संकेत उस मूल कारणकी तरफ है जो युद्ध के वातावरण को बनाता है। प्रभाव विस्तार की कामना विश्व के दो प्रमुख राष्ट्र, अमरीका तथा रूस में प्रकट रूप से प्रबल है—चीन की बात नहीं कर

---

१. हरिजन, १२-११-'३८, पृ० ३२८

रहे हैं, उनका अस्तित्व इन दो के मुकाबले में मेंढकी जैसा है, जो नाल जड़वाने को तैयार है। पर प्रभाव, अथवा अपने पक्ष में लाने के, दो ही तरीके हो सकते हैं—प्रेम या आतंक। आज की स्थिति में, जबकि 'उप-निवेश-शासन' अपने औचित्य को खो चुका है, और किसी समय के गुलाम राष्ट्र अपनी प्रभुसत्ता को प्राप्त कर चुके हैं, ऐसा सम्भव नहीं है कि आतंकवादी नीति कारगर साबित हो। तो दूसरा विकल्प 'प्रेम' का रहता है। जितना मैत्री भाव इन दोनों राष्ट्रों में से एक राष्ट्र पनपा सकेगा, उतना ही वह अल्पविकसित राष्ट्रों का समर्थन पा सकेगा। अतः इसकी पहली शर्त अहिंसा होगी जो कि सद्भावना से ही उत्पन्न हो सकती है। इसके लिए सहिष्णुता आवश्यक है—बल्कि अनिवार्य है।

शिक्षा

जिज्ञासानिष्ठ व्यक्ति अपनी सजगता तथा सतत सक्रिय विवेक से साधारण दीखने वाले कार्यों में से भी महत्त्वपूर्ण, उपयोगी तथा अज्ञात निष्कर्षों को ढूंढ़ निकालता है। गांधी जी के बारे में यह कहा जाता है कि उन्होंने जिस क्षेत्र में भी ज़रा-सी रुचि ली, उसमें नवीन उपलब्धियों को प्राप्त किया। उनकी यही उपलब्धियाँ उस क्षेत्र में अमूल्य सिद्धान्त बन गईं। लेकिन तथ्य कुछ और ही है। वस्तुतः गांधी जी ने जो कुछ भी प्राप्त किया, वह प्रयोग तथा अनुभव से प्राप्त किया। वह हर विचार को प्रयोग की कसौटी पर कसते थे। परिणामों पर सोचते तथा मनन करते थे। त्रुटियों को छोड़ते जाते थे और विधि को पूर्ण बनाने के लिए उसमें सुधार जोड़ते जाते थे। इस अध्याय में हम उनकी शिक्षा सम्बन्धी मान्यताओं पर विचार करते हुए उनके द्वारा प्रतिपादित बुनियादी शिक्षा (बेसिक एज्यूकेशन) की उपयोगिता तथा अनिवार्यता का विवेचन करेंगे।

गांधी जी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है, 'मैं बच्चों के साथ को बहुत पसन्द करता था, और उनके साथ खेलने तथा हास-परिहास करने की आदत मुझमें आज तक है। और मैंने तब से हमेशा सोचा है कि मुझे बच्चों का अच्छा अध्यापक बनना चाहिए।'[1]

यही नहीं बोम्बे की कचहरी में जब वह अपने पहले मुकदमे की पैरवी करने के लिए खड़े हुए तो वह गवाह से एक भी प्रश्न नहीं कर सके। उन्होंने अपने को असफलतम वकील पाया। अतः उनको दूसरा विकल्प अध्यापन लगा। उन्होंने अंग्रेज़ी अध्यापक के लिए एक हाईस्कूल मे प्रार्थना-पत्र भी दिया और प्रिंसिपल से मिले भी। लेकिन क्योंकि वह स्नातक नहीं

१. द सलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, वॉल्यूम १, पृ० १३४

थे, सिर्फ मेट्रीकुलेट थे, अतः उनकी नियुक्ति नहीं हुई।

इन दोनों उदाहरणों को देने का एक ही उद्देश्य है कि हम समझ जायें कि गांधी जी शिक्षा के प्रति कितने सजग थे। जिस शिक्षा को उन्होंने पाया था वह मात्र बौद्धिक पोषण करती थी, और गांधी जी के अनुसार ऐसी शिक्षा एकांगी तथा अपूर्ण है।

शिक्षा शास्त्र में शिक्षा-अर्जन को साधनों की दृष्टि से दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है :

(१) अविधिक (Informal) : इस तरह की शिक्षा बालक को इतर स्रोतों से प्राप्त होती है यथा माता-पिता या परिवार, मित्र, रेडियो, समाचारपत्र, समाज तथा खेल आदि से।

(२) सविधिक (formal) : विशिष्ट प्रणालियों के द्वारा, पूर्व निश्चित कार्यक्रम के अनुसार जो शिक्षा बच्चे सामान्यतः विद्यालयों में पाते हैं।

गांधी जी शिक्षा देने की दोनों विधियों के समर्थक थे। बच्चों की शिक्षा के लिए वह शालाओं के पाठन को भी उतना ही महत्व देते थे जितना उनके पारिवारिक वातावरण को। बल्कि, वह यह मानते थे कि माता-पिता को आरम्भिक अवस्था में बच्चों को अपने से अलग नहीं रखना चाहिए, न उन्हें छात्रावासों में भेजा जाना चाहिए। अपने बच्चों की शिक्षा के सन्दर्भ में वह लिखते हैं :

पूर्ण व्यवस्थित घर में जिस शिक्षा को बच्चे स्वाभाविक रूप से प्राप्त करते हैं वैसी छात्रावास में प्राप्त करना असम्भव है।'[1]

उपर्युक्त मान्यता के कारण वह माता-पिता से भी कुछ अपेक्षाएँ रखते हैं। उनके अनुसार पति-पत्नी के वासनात्मक सम्बन्ध, वासनापूर्ति के उद्देश्य से नहीं होने चाहिए। उनमें संयम तथा नियन्त्रण होना चाहिए तथा सिर्फ सन्तानोत्पत्ति की इच्छा पर ही यह कार्य होना चाहिए। गांधी जी की शक्ति को प्रश्रय देने वाली धारणाओं में यह भी एक धारणा कही जा सकती है, पर इसके साथ जो उद्देश्य है, उसको महत्वहीन नहीं कहा जा सकता। वह माता-पिता से यह अपेक्षा रखते हैं कि वह वासना पर संयम रखकर बच्चे को उस ज्ञान से परिपूर्ण करें जो बच्चे के शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक विकास में सहायक हो। वह स्पष्ट शब्दों में इस मान्यता को रखते हैं कि, 'हम एक प्रकार के अन्धविश्वास में रहते हैं कि बच्चे का

---

१. द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गान्धी, वॉल्यूम १, पृ० २१०

अपने जीवन के प्रथम पाँच वर्षों में कुछ नही सीखना होता। जबकि इसके विपरीत सत्य यह है कि बच्चा बाद के जीवन मे कभी नही सीखता, जो कि आरम्भिक पाँच वर्षों मे सीख लेता है। बच्चे की शिक्षा गर्भ मे आने के पश्चात् ही शुरू हो जाती है।"

अविधिक शिक्षा का प्रमुख —बल्कि केन्द्रीय—संस्थान बच्चे के माता-पिता में निहित होता है। माता-पिता का आधारभूत स्वभाव बच्चे मे रक्त के माध्यम से ही नही प्राप्त होता है, बल्कि उसके प्रारम्भिक सस्कार भी उन्हीं के द्वारा उस तक पहुँचते हैं। वह एक साफ-स्वच्छ और चिकनी मोम की स्लेट होता है, जिसपर कुछ भी चित्रित किया जा सकता है —योग्यता चित्रकार मे होनी चाहिए। यह नहीं भूलना चाहिए कि उसके ज्ञानार्जन की विधि अनुकरण से शुरू होती है।

गांधी जी पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा चरित्र-निर्माण को अधिक महत्त्व देते हैं। और वैसे भी स्वीकार करना चाहिए कि शिक्षा का मूल उद्देश्य भी व्यक्तित्व निर्माण ही होता है। पुस्तकीय ज्ञान, बिना शरीर निर्माण तथा चारित्रिक विकास के निरर्थक तथा अनुपयोगी है। बच्चा निर्जीव टेप की हुई फिल्म नही है कि जिसके कार्य की इति सिर्फ भरे हुए ज्ञान को बकारने मे हो। उसे समाज में रहना होता है, उसी मे बढ़ना होता है, और उसी से उसे आदान-प्रदान करना पड़ता है। यह क्रम जीवन के अंत तक चलना होता है। अतः हमे समाज के लिए काँटेदार झाड़ियाँ नहीं देनी होतीं, खुशबू वाले पौधे और फलदार वृक्ष देने होते हैं।

गांधी जी ने इस प्रयोग को अपने बच्चों से शुरू किया था।[1] उन्होंने अपने बच्चों को स्वावलम्बी, परिश्रमी तथा सच्चरित्र बनाने की कोशिश की। माता-पिता के उत्तरदायित्व की दिशा मे सचेत करते हुए वह कहते हैं:

मैं यह विश्वास करता हूँ कि मैंने उनके पुस्तकीय प्रशिक्षण को सामाजिक सेवा के लिए बलिदान किया—जिस पर आधारभूत रूप से विश्वास करता था, चाहे वह गलती विश्वास हो···। लेकिन मैं यह मानता हूँ कि यह हर

---

१. गांधी जी की धारणा सदा यही रही है कि प्रयोगों को अपने से शुरू करना चाहिए, ताकि सत्यों को जल्दी पाया जा सके। द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, वॉल्यूम २, पृ० ४२८

२. वही, वॉल्यूम १, पृ० ३०१

माता-पिता का अनिवार्य कर्तव्य है कि बच्चों के लिए इसे (चारित्रि
निर्माण) को उपलब्ध करवाये।[1]

इन्हीं विश्वासों का यह सुफल निकला कि उनके बच्चों ने किसी भ
प्रकार के शरीरिक श्रम को हेय नहीं समझा, सेवा भाव उनकी कार्यों क
नींव में रहा और समय-समय पर वह अपने कार्यों में इस प्रकार की शिक्ष
के अनुकरणीय उदाहरण बने।

गांधी जी के शिक्षा सम्बन्धी प्रयोग में उन्हीं के द्वारा स्थापित चार
आश्रमों का विशेष योग रहा है: अफ्रीका में फोनिक्स के निकट स्थापित
आश्रम, जोहासबर्ग के निकट टॉल्सटाय फार्म, तथा भारत में साबरमती
आश्रम व वर्धा का आश्रम।

इन आश्रमों में शैक्षणिक प्रयोग की आधारभूत भूमि टॉल्स्टाय
फार्म की आवश्यकताओं तथा वहाँ की जीवन विधि से ही पोषित हुई है।
ध्यान में रखने की बात यह है कि फोनिक्स के आश्रम की जीवन-विधि की
प्रेरणा गाधी जी को रस्किन की पुस्तक 'अनटू दिस लास्ट' से प्राप्त हुई थी।
शारीरिक परिश्रम का अपना आनन्द होता है। सादा, कर्मलीन, सहयोग
पूर्ण एवं सामुदायिक जीवन स्वस्थ वातावरण को पैदा करता है। और इसी
की प्राप्ति गाधी जी के आश्रमों का उद्देश्य रहा है। गाधी जी तथा उनके
साथी उस समय 'Indian Opinion' नामक एक अखबार निकालते थे।
इसके प्रेस को भी वह वहीं ले गये।

इस आश्रम में रहने वाले परिवारों के लगभग तीस बच्चे थे। इनकी
शिक्षा की व्यवस्था भी की गई। शारीरिक श्रम, उद्योग तथा साहित्यिक
शिक्षा का समन्वय किया गया। 'बालकों की दिनचर्या में ३ घंटे पढ़ाई, २ घंटे
कृषि कार्य, २ घंटे प्रेस कार्य, तथा रात्रि का अध्ययन रक्खा गया। शिक्षा
का साधन, कार्य करते समय बातचीत, रात्रि की चर्चा, किसी पुस्तक या
घटना पर टिप्पणी आदि थी।'[2]

लेकिन टॉल्सटाय आश्रम का जन्म दूसरी परिस्थितियों में हुआ। यह
सत्याग्रह के अनिवार्य परिणामों के फलस्वरूप उसकी माँगों का पूरक था।
वे सत्याग्रही जो कि बड़ी संख्या में जेल जा चुके थे उनके परिवार की
व्यवस्था संघर्ष-समिति कर रही थी। जोहांसबर्ग से फोनिक्स ३०० मील

---

१. द सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, वॉल्यूम २, पृ० ४६४
२. शिक्षा सिद्धांत गुप्ता एवं माथुर, पृ० ३४

दूर था और यह सम्भव नहीं था कि इतने सारे परिवारों को वहाँ भेजा जा सकता – यह परिवार इतनी दूर जाना भी नहीं चाहते थे शायद। इसी समय रतन जी जमशेद जी टाटा ने (इंग्लैंड से) सत्याग्रहियों के लिए २५००० रुपये सत्याग्रह कोष के लिए दिया था। मितव्ययिता तथा न्याय-व्यवस्था रखने के लिए १९१० में टॉलस्टाय फार्म की स्थापना जोहांसबर्ग से इक्कीस मील दूर की गई। यह नजदीक के रेलवे स्टेशन फार्म से एक मील दूर था। ली गई जमीन १,१०० एकड़ थी, जिसमें १०० के लगभग फल वाले वृक्ष थे।

यहाँ पर बसने वाले सत्याग्रहियों में हिन्दू, मुसलमान, पारसी तथा इसाई थे, जिनके भिन्न-भिन्न धर्म थे। अतः शिक्षा को इस शर्त का भी पूरक होना था। हमारे सामने स्पष्ट है कि यहाँ ऐसी शिक्षा होनी चाहिए थी, जो एक तरफ आर्थिक दृष्टि से कम खर्च वाली हो, कृषि तथा बागों लिए उपयोगी हो, दो-तीन भाषाओं (गुजराती तमिल, तेलुगु, हिन्दुस्तानी व अंग्रेजी) को एक साथ चलाये तथा धार्मिक दृष्टि से सम्बन्ध-प्रधान तथा सहिष्णुता-पोषक हो। गांधी जी ने इन परिस्थितियों की मांग को पूरा करने वाले शिक्षा कार्य-क्रम को व्यावहारिक रूप दिया।

हम पहले ही कह आये हैं कि गांधी जी शिक्षा का उद्देश्य बच्चे के सर्वतोमुखी विकास में मानते थे। उन्होंने लिखा था—शिक्षा से मेरा अभिप्राय उस सब अच्छे को बाहर प्रकट करवाना है जो बच्चे अथवा मनुष्य के अन्दर है — शरीर, मस्तिष्क और आत्मा में।[1]

टॉलस्टाय फार्म पर दी गई शिक्षा के रूप का संक्षिप्त वर्णन करने के पश्चात् गांधी जी के शिक्षा सम्बन्धी मूल विचारों की व्याख्या करेंगे।

सुबह का समय कृषि तथा बाग में लगता था। सब बड़ों के साथ बच्चे खेत पर काम करते थे तथा बाग में गड्ढे खोदते थे, लकड़ी काटते थे, अथवा ऐसे ही शारीरिक मेहनत के कार्य करते थे।

शाला दोपहर के बाद लगती थी। गांधी जी के अतिरिक्त कालेय नामक आश्रम निवासी बच्चों को पढ़ाते थे। इस तरह यह शाला दो अध्यापकों की शाला थी।

सबसे बड़ी समस्या भाषा पाठन की थी। तीन घंटे भाषा के लिए रखे गये थे जिनमें हिन्दी, तमिल, गुजराती तथा उर्दू पढ़ाई जाती थी।

---

१. द सलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, वॉल्यूम ६, पृ०, ५०७

[illegible] शिक्षा का अनिवार्य कर्तव्य है कि बच्चों के लिए इसे (अनिवार्य शिक्षा) को [illegible] ।'

इन्हीं सिद्धान्तों का यह सूचक निकला कि उनके बच्चों के लिए [illegible] प्रकार के भौतिक भय को देख नहीं सकता, [illegible] [illegible] में रहा और [illegible] आगे जाने कार्यों में इस प्रकार की शिक्षा के अनुकरणीय उदाहरण बने।

गांधी जी के शिक्षा सम्बन्धी प्रयोग में उन्हीं के द्वारा स्थापित आश्रमों का विशेष योग रहा है। अफ्रीका में फोनिक्स के निकट स्थापित आश्रम, जोहान्सबर्ग के निकट टॉलस्टाय फार्म, तथा भारत में साबरमती आश्रम व वर्धा का आश्रम।

इन आश्रमों में शैक्षणिक प्रयोग की [illegible] टॉलस्टाय फार्म की आवश्यकताओं तथा वहाँ की जीवन विधि से ही प्रेरित हुई है। ध्यान में रखने की बात यह है कि फोनिक्स के आश्रम की जीवन-विधि की प्रेरणा गांधी जी को रस्किन की पुस्तक 'अनटू दिस लास्ट' से प्राप्त हुई थी। शारीरिक परिश्रम का अपना आनन्द होता है। सादा, कर्मनिष्ठ, सहयोग पूर्ण एवं सामुदायिक जीवन स्वस्थ वातावरण को पैदा करता है। और इसी की प्राप्ति गांधी जी के आश्रमों का उद्देश्य रहा है। गांधी जी तथा उनके साथी उस समय 'Indian Opinion' नामक एक अखबार निकालते थे। इसके प्रेस को भी वह यहीं ले गये।

इस आश्रम में रहने वाले परिवारों के लगभग तीस बच्चे थे। इनकी शिक्षा की व्यवस्था भी की गई। शारीरिक श्रम, उद्योग तथा साहित्यिक शिक्षा का समन्वय किया गया। 'बालकों की दिनचर्या में ३ घंटे पढ़ाई, २ घंटे कृषि कार्य, २ घंटे प्रेस कार्य, तथा रात्रि का अध्ययन रक्खा गया। शिक्षा का साधन, कार्य करते समय बातचीत, रात्रि की चर्चा, किसी पुस्तक या घटना पर टिप्पणी आदि थी।'[2]

लेकिन टॉलस्टाय आश्रम का जन्म दूसरी परिस्थितियों में हुआ। यह सत्याग्रह के अनिवार्य परिणामों के फलस्वरूप उसकी माँगों का पूरक था। वे सत्याग्रही जो कि बड़ी संख्या में जेल जा चुके थे उनके परिवार की व्यवस्था संघर्ष-समिति कर रही थी। जोहासबर्ग से फोनिक्स ३०० मील

---

१. द सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, वॉल्यूम २, पृ०, ४६४

२. शिक्षा सिद्धांत गुप्ता एवं माथुर, पृ० ३४

दूर था और यह सम्भव नहीं था कि इतने सारे परिवारों को वहाँ भेजा जा सकता — यह परिवार इतनी दूर जाना भी नहीं चाहते थे शायद। इसी समय रतन जी जमशेद जी टाटा ने (इंग्लैंड से) सत्याग्रहियों के लिए २५००० रुपये सत्याग्रह कोष के लिए दिया था। मितव्ययिता तथा न्याय-व्यवस्था रखने के लिए १६१० में टॉलस्टाय फार्म की स्थापना जोहान्सबर्ग से इक्कीस मील दूर की गई। यह नजदीक के रेलवे स्टेशन फार्म से एक मील दूर था। ली गई जमीन १,१०० एकड़ थी, जिसमें १०० के लगभग फल वाले वृक्ष थे।

यहाँ पर बसने वाले सत्याग्रहियों में हिन्दू, मुसलमान, पारसी तथा इसाई थे, जिनके भिन्न-भिन्न धर्म थे। अतः शिक्षा को इस शर्त का भी पूरक होना था। हमारे सामने स्पष्ट है कि यहाँ ऐसी शिक्षा होनी चाहिए थी, जो एक तरफ आर्थिक दृष्टि से कम खर्च वाली हो, कृषि तथा बागों लिए उपयोगी हो, दो-तीन भाषाओं (गुजराती तमिल, तेलुगु, हिन्दुस्तानी व अंग्रेजी) को एक साथ चलाये तथा धार्मिक दृष्टि से सम्बन्ध-प्रधान तथा सहिष्णुता-पोषक हो। गांधी जी ने इन परिस्थितियों की माँग को पूरा करने वाले शिक्षा कार्य-क्रम को व्यावहारिक रूप दिया।

हम पहले ही कह आये हैं कि गांधी जी शिक्षा का उद्देश्य बच्चे के सर्वतोमुखी विकास में मानते थे। उन्होंने लिखा था—शिक्षा से मेरा अभिप्राय उस सब अच्छे को बाहर प्रकट करवाना है जो बच्चे अथवा मनुष्य के अन्दर है— शरीर, मस्तिष्क और आत्मा में।[1]

टॉलस्टाय फार्म पर दी गई शिक्षा के रूप का संक्षिप्त वर्णन करने के पश्चात् गांधी जी के शिक्षा सम्बन्धी मूल विचारों की व्याख्या करेंगे।

सुबह का समय कृषि तथा बाग में लगता था। सब बड़ों के साथ बच्चे खेत पर काम करते थे तथा बाग में गड्ढे खोदते थे, लकड़ी काटते थे, अथवा ऐसे ही शारीरिक मेहनत के कार्य करते थे।

शाला दोपहर के बाद लगती थी। गांधी जी के अतिरिक्त कालेय नामक आश्रम निवासी बच्चों को पढ़ाते थे। इस तरह यह शाला दो अध्यापकों की शाला थी।

सबसे बड़ी समस्या भाषा पाठन की थी। तीन घंटे भाषा के लिए रखे गये थे जिनमें हिन्दी, तमिल, गुजराती तथा उर्दू पढ़ाई जाती थी।

---

१. द सलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, वॉल्यूम ६, पृ०, ५०७

इसके अलावा अंग्रेजी भी पढ़ाई जाती थी। पाठन उसी भाषा के माध्यम में दिया जाता था जिस भाषा को बच्चा बोलता था। पाठन विधि में पुस्तकों की सहायता नहीं ली जाती थी। परन्तु बच्चों के अक्षरों को सुलेखन में ढालने का प्रयास रहता था। यहाँ मौखिक भाषण के द्वारा पढ़ाया जाता था जिसमें बच्चे अधिक रुचि लेते थे। इतिहास, भूगोल व गणित बच्चों को उसी भाषा के माध्यम से पढ़ाया जाता था जिसे वह बोलते थे।

आध्यात्मिक शिक्षा भी एक समस्या थी। गांधी जी चाहते थे कि मुसलमान कुरान पढ़ें, पारसी अवस्ता पढ़ें। लड़कों में एक 'खोजा' सम्प्रदाय का था जिसका पिता चाहता था कि उसे उनकी धार्मिक पुस्तक 'पोथी' पढ़ाई जाये। गांधी जी ने इस शिक्षा को देने के लिए इस्लाम तथा पारसी धर्म की पुस्तकों को पढ़ा तथा उसमें आधारभूत विचारों को बच्चों को पढ़ाया। इसी प्रकार उन्होंने हिन्दू धर्म के भी आधारभूत सिद्धांतों को लिखकर रख लिया। इसके अलावा बच्चों को उनके धर्म के श्लोक, भजन आदि याद कराये जाते थे। क्योंकि वह ज्ञान देने के साथ-साथ आध्यात्मिक अभ्यास भी कराना चाहते थे; अतः उन्होंने अपने को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया। गांधी जी इस आध्यात्मिक शिक्षा के परिणाम को इन शब्दों में लिखते हैं :

पाठन का यह प्रयोग फल रहित नहीं था। बच्चे असहिष्णुता की बीमारी से बच गये, और उन्होंने एक-दूसरे के धर्म तथा रीति-रिवाजों को विशाल हृदयता से देखना सीखा। उन्होंने सीखा कि सगे भाइयों की तरह साथ-साथ कैसे रहा जाता है। उन्होंने परस्पर सेवा, नम्रता तथा मेहनत के सबक को अपना लिया।[1]

बढ़ईगिरी तथा जूते बनाने की शिक्षा उत्पादक श्रम के रूप में दी जाती थी।

इस शाला में एक ही कक्षा में सात साल के बच्चों से लेकर बीस वर्ष की उम्र तक के लड़के तथा १२-१३ वर्ष की उम्र की लड़कियाँ एक साथ पढ़ती थीं। शिक्षा में लड़के-लड़की साथ पढ़ते थे। गांधी जी ने इस सह-शिक्षा (Co-education) में विद्यार्थियों को काफी स्वतंत्रता दे रखी थी।

रसोई से कुछ दूरी पर एक झरना था जहाँ लड़के (जो कि काफी शैतान थे) व लड़कियाँ साथ-साथ नहाने जाते थे। सब एक निश्चित समय

---

१. द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, वॉल्यूम ३, पृ० ३३०

समूह के रूप में जाते थे। गाधी जी इन सब पर सतर्क दृष्टि रखते थे। यही नहीं बल्कि सारे बच्चे रात मे एक वरामदे मे गाधी जी के चारों तरफ सोते थे। ध्यान रहे कि एक बिस्तर तथा दूसरे बिस्तर के बीच मे मुश्किल से तीन फीट का फासला रहता था।

गाधी जी ने एक घटना का वर्णन किया है जो रुचिकर तथा शिक्षाप्रद भी है। एक दिन लडकों मे से एक ने दो लड़कियो को छेड दिया। गांधी जी के पास वह शिकायत आई। उन्होने उस युवक से वाद-प्रतिवाद किया। लेकिन सबको शिक्षा देने के लिए उन्होने दो लड़कियो के लम्बे वाल काटने चाहे। पहले न उनकी माताएँ तैयार हुई न वे दोनों लड़कियाँ। लेकिन वाद मे मान गई। गाधी जी ने दोनों लडकियो के वाल कैंची से काट दिये। यह कक्षा के लिए शिक्षा थी। लेकिन गाधी जी स्वय कहते हैं कि इस प्रकार के प्रयोग अनुकरण के लिए नही हैं।

गांधी जी शारीरिक सजा देने मे विश्वास नहीं करते थे। उन्होंने एक बार सिर्फ एक लडके को रूल से मारा, जो जबानदराजी पर आ गया था। परन्तु इस बात का उन्हें दुःख बहुत हुआ।

टॉल्सटाय फार्म पर किये गये गाधीजी के शैक्षणिक प्रयोगो ने ही उन्हें इस योग्य वनाया कि भारत मे आकर वह एक सर्वथा मौलिक शिक्षा योजना का प्रचार-प्रसार कर सके। यहाँ भी उन्होने सावरमती तथा वर्धा मे आश्रम खोले जहाँ इसी शिक्षा-योजना को लागू किया। आगे चलकर गांधी जी की बुनियादी शिक्षा नयी तालीम के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके लिए सेवाग्रम मे हिन्दुस्तानी तालीमी संघ स्थापित हुआ।

गाधी जी के आधारभूत विचारो को पुष्ट करने वाली बुनियादी शिक्षा को हम तभी समझ सकेंगे जब गाधी जी की मूल दृष्टि तथा मान्यताओं को समझ लें। आगे हम उन्ही की चर्चा करेंगे।

शिक्षा किसके लिए और क्यों? यह जड़ प्रश्न नही हैं, बल्कि जड़ के प्रश्न हैं। अर्थात् हमारी शिक्षा किसके लिए है? शिक्षा की आवश्यकता क्यों है?

यूँ, शिक्षा अपने विस्तृत अर्थ मे सम्पूर्ण जीवन को परिधित करती है। मनुष्य जीवन-भर अनुभवों के माध्यम से शिक्षा ग्रहण करता रहता है तथा अपने को योग्य एव अनुकूल बनाकर ऐसी शक्ति से युक्त करता है जो अवरोधों पर विजय प्राप्त करे। शिक्षा व्यक्तित्व का निर्माण है। जब शिक्षा को सीमित करते हैं तो उसका अभिप्राय बच्चों तथा युवकों की

शिक्षा से रह जाता है। हमारे दो प्रश्नों में से पहले का उत्तर है—शिक्षा बच्चों और युवकों के लिए होती है।

दूसरा प्रश्न शेष है—शिक्षा की आवश्यकता क्यों है? बच्चों के संदर्भ में, इसलिए क्योंकि वह संसार में आगन्तुक हैं। उन्हें नहीं पता है कि इसके लिए या उन्हें जीने के लिए कैसा होना चाहिए। युवकों के लिए यही *समस्या और प्रखर हो जाती है। उनकी आन्तरिक शक्तियां विकसित हो* चुकी होती हैं। पर वह यह नहीं जान पाते कि इन शक्तियों का उपयोग किस ढंग से किया जाय। 'ढंग' लक्ष्य अथवा उद्देश्य की अपेक्षा रखता है। शिक्षा का महत्त्व उद्देश्य को जानकर 'ढंग' की रूप-रेखा तैयार करना होता है। यह रूप-रेखा ऐसे ही व्यक्तियों द्वारा तैयार की जा सकती है, जिन्होंने जीवन को जाना है, सम्भावित गिरावों को देखा तथा अनुभव किया है और संसार को समझा है—इस संसार को, जो चढ़ने वालों को सीढ़ी देता है और गिरने वाले के लिए सीढ़ियाँ तथा सुरक्षा के आधारों को हटाता है। गड्ढों को और गहरा तथा अंधेरे से युक्त करता है।

सही या गलत, अच्छा या बुरा होना है; यह बात दूसरी है कि इसकी कसौटियाँ भिन्न हों। लेकिन यह तो मानना ही पड़ेगा कि सही और अच्छी *शिक्षा वह है जो बच्चों को सही और अच्छा युवक बनाये, और युवकों को* सही और अच्छा आदमी बनाये। सही और अच्छा आदमी न तो अपने को क्षति पहुँचाना चाहेगा, और न उस वातावरण को जो उसके लिए है—उसकी सहायता लिए। वातावरण प्रकृति है, समाज है, देश है, और इसमें आगे विश्व है। जब परस्पर निर्भरता का सम्बन्ध है, परस्पर विकास, प्रति-विकास का सम्बन्ध है, तब शिक्षा भी वही सही तथा अच्छी हो सकती है जो व्यक्ति विकास में सहायक हो तथा वातावरण-विकास में सहायक हो। अब हम गांधीजी के अधिक निकट हैं। उन्हें समझ सकते हैं। वह मानते हैं: हम में से सब ऐसे 'मंगल' को रखते हैं जो आत्मा में उत्तराधिकार के रूप में प्रवस्थित रहता है। आवश्यकता है कि अध्यापकों द्वारा यह बाहर लाई जाये। और वही अध्यापक इस पवित्र कार्य को कर सकते हैं जिनका कि स्वयं का चरित्र अदूषित है, जो हमेशा सीखने के लिए प्रस्तुत रहते हैं, तथा पूर्णता की दिशा में विकास करते हैं।[1]

इस मान्यता के अनुसार शिक्षण एक पवित्र कार्य है और अध्यापक

---

१. हरिजन ७-११-'३६, पृ० १०६

को कड़ी परीक्षात्मक कसौटी पर सही उतरना होता है। उसे अपने चरित्र को अकलुप रखना होता है, तथा पूर्णता के लिए श्रमसाध्य तपस्या की प्रक्रिया से गुज़रना होता है। और अगर उसके चारो तरफ का वातावरण दूषित, लालसा उत्तेजक तथा गिराने वाला हो—जैसाकि है और रहता है—तो उसका अध्यापन कार्य कितने ही गुना कठिन हो जाता है। लेकिन फिर भी इस सत्य की उपेक्षा नही की जा सकती। अध्यापक का सीधा सम्पर्क बच्चों से होता है अनजान और भोले बच्चो से, दिशाहारे युवको से। अगर वह ही भटका हुआ होगा तो बच्चे और युवक आवश्यक रूप से भटक जायेंगे। अध्यापक का कार्य सु-सस्कारो को जमाकर बच्चो तथा युवकों को उपयोगी एवं हितकर नागरिक बनाना है। यह पुस्तकीय ज्ञान को देने से पूरा नही हो सकता। इसके लिए अन्य आवश्यकताओ का ध्यान रखना पड़ता है।

गाधी जी व्यक्ति को हिस्सों मे नही देखते, उसको पूर्णता मे देखते हैं। उन्होंने लिखा :

मनुष्य न तो सिर्फ बुद्धि है, न स्थूल पशु-शरीर, न ही हृदय अथवा आत्मा मात्र है। पूर्ण मनुष्य के बनने मे इन तीनो का सस्वरित व उचित संयोग होना अपेक्षित है।[1]

अतः बच्चो व युवको की भी ऐसी शिक्षा होनी चाहिए जो उनके इन तीनों पक्षों को विकसित करे।

बुद्धि के लिए ज्ञान जरूरी है। लेकिन गाधी जी इस पक्ष मे नही हैं कि यह ज्ञान मात्र किताबों के माध्यम से दिया जाये। बच्चों के साथ यह स्वाभाविक है कि वह रचनात्मक विधि द्वारा दिये ज्ञान मे अधिक रुचि लेते हैं। किताबो को या उनमे दिये ज्ञान को रटना उनके लिए सजा को भुगतने के समान है। बच्चे खेल-मेल मे या ऐसी क्रियाओ द्वारा जो उन्हें रुचिकर तथा मनोरजक लगें, अधिक ज्ञान को आत्मसात् कर सकते हैं। यह विधि उनको आकर्षित करती हैं और उनमे ऊबन नहीं भरती। छात्रों की रुचि, उनकी आवश्यकता को समझते हुए दिया गया शिक्षण फल-प्राप्ति करवाता है। छात्रों को रट्टू तोता बनाना, न सरकस के ऐसे जानवर बनाना है, जो एक विशिष्ट क्रिया को ही कर सकते हैं, शिक्षा के तात्त्विक उद्देश्य को समाप्त करना है। यदि अध्ययन करते समय छात्र की सारी इन्द्रियाँ

१. हरिजन, ८-५-'३७, पृ० १०४

सकता सभी ज्ञान, तथा उन्हें क्रिया से जोड़कर प्रदान किया जाये तो ज्यादा हितकर हो सकता है। गांधी जी के इस सम्बन्ध में विचार ध्यान देने योग्य हैं

मैं यह मानता हूँ कि बुद्धि का सच्चा विकास तभी हो सकता है जब शरीर के विभिन्न अंगों उदाहरणार्थ हाथ, पैर, आँखें, कान, नाक आदि को अभ्यास तथा प्रशिक्षण मिले। दूसरे शब्दों में बुद्धिमत्तापूर्वक बच्चे के शारीरिक अंगों का उपयोग उसे सर्वोत्तम तथा शीघ्रातिशीघ्र अपने मानसिक विकास करने का मार्ग उपलब्ध करता है।[1]

इस विधि को यथार्थ रूप देने के लिए गांधी जी ने किसी एक उद्योग को केन्द्रीय महत्त्व का रखने का सुझाव दिया। बच्चे को विभिन्न ज्ञान-शाखाओं का साधारण ज्ञान इसी के द्वारा प्राप्त करवाया जाना चाहिए। यहाँ उनकी जिज्ञासा प्रश्नों के द्वारा जाग्रत की जानी चाहिए तथा उनका उत्तर अध्यापक को देना चाहिए।

उदाहरण के तौर पर कताई-बुनाई उद्योग लिया जाय। अध्यापक जब कपास की खेती करवाने को उद्यत होता है तब उसे जमीन के, मिट्टी के बारे में ज्ञान करवाना चाहिए। मिट्टी कितनी प्रकार की होती है? कैसी मिट्टी इस विशिष्ट वस्तु को उपजाने में चाहिए? दूसरी प्रकार की मिट्टी किन-किन चीजों को उठाती है?

मिट्टी के बाद उसे जलवायु आदि का ज्ञान देना चाहिए। ऋतुएँ कितनी होती हैं? वर्ष में महीने कितने होते हैं? किन महीनों में कैसा मौसम रहता है? वर्षा कब, क्यों और कैसे होती है? कपास की खेती के लिए कैसी वर्षा की आवश्यकता होती है? दूसरी उपजों के लिए कितनी वर्षा, गर्मी आदि चाहिए? इस प्रकार हम बिना विशिष्ट परिश्रम के बच्चों को भौगोलिक ज्ञान देते हैं।

भूमि को कृषि योग्य बनाने, तथा उनमें क्यारियाँ बनवाने के साथ-साथ उन्हें ज्यॉमितिक ज्ञान दिया जा सकता है, मसलन वर्गाकार, आयताकार, वृत्ताकार, त्रिकोणाकार भूमि कैसी होती है।' इनका क्षेत्रफल आदि कैसे निकाला जाता है? लम्ब रेखा, समानान्तर रेखाएँ कैसी होती हैं? इसी विधि से गिनती से लेकर जोड़, घटाना, गुणा, भाग, ऐकिक नियम साधारण लाभ-हानि आदि सिखाया जा सकता है।

---

१. हरिजन, ८-५-'३७, पृ०|१०४

चाहे शरीर-विज्ञान, स्वच्छता व अन्य विज्ञान हों, इसी प्रश्नोत्तर की विधि से बच्चों को पढाये जा सकते है। यहां हम इतना स्पष्ट अवश्य करना चाहेंगे कि जिस रूप मे हमने उपर्युक्त शिक्षण-रीति का वर्णन किया है, उसमे गांधी जी की शिक्षण दृष्टि को समझाने का प्रयास है। यह ज्ञान इसी रूप में नही उडेला जा सकता बल्कि बच्चों की आयु तथा ग्रहण-सामर्थ्य को ध्यान में रखकर खण्डश: रूप मे दिया जायेगा। ऐसा न होने पर वाछित उद्देश्य की प्राप्ति नही की जा सकती। यह हम आगे स्पष्ट करेंगे कि गाधी जी बच्चे को सीधा लेखन अथवा अक्षर ज्ञान पर नही उतारते हैं। उनकी मान्यता है पहले पर्याप्त ज्ञान को मौखिक रूप से, क्रिया-सम्बद्ध करके दिया जाये, जब बच्चा परिचय प्राप्त कर ले तब उसे अक्षर ज्ञान और लेखन सिखाया जाय। ध्यान देने की बात यह भी है कि कृषि को गाधी जी उद्योग नही मानते है, कताई-बुनाई को मानते हैं।

वास्तव मे यह विधि नई नही है। विज्ञान के विषयों को हम प्रयोग द्वारा ही समझाते है और इसी विधि से विषय छात्र के जल्दी समझ में आता भी है। गाधीजी ने इसी प्रयोग-विधि को उपयोगी उद्योग से जोड़कर कई लाभों को एक साथ प्राप्त करने का प्रयत्न किया है।

बुद्धि के बाद मनुष्य का देह पक्ष आता है। गाधी जी शारीरिक परिश्रम अथवा मेहनत को बहुत महत्त्व देते हैं। उनका कहना है कि शरीर को धारण किये रहने के लिए शारीरिक श्रम आवश्यक है। मानसिक परिश्रम मस्तिष्क को सास्कृतिक बनाने के लिए आवश्यक है। उन्होने लिखा: अगर हर व्यक्ति पसीने की कमाई पर जिन्दा रहे, तो ससार स्वर्ग बन जाये।[1]

गाधी जी ने शारीरिक श्रम के पक्ष मे बडा अच्छा तर्क दिया है। वह मानसिक श्रम को, शारीरिक श्रम की अपेक्षा ऊँचा अवश्य मानते हैं, परन्तु यह नही मानते कि मानसिक श्रम, शारीरिक श्रम का स्थापनापन्न अथवा एवजी हो सकता है। जिस प्रकार मनसिक पोषक वस्तु, चाहे उस अनाज से कितनी ही महत्त्व वाली हो जिसे हम खाते हैं, पर उसकी एवजी का कार्य नही कर सकती।[2]

शारीरिक श्रम का महत्त्व इसीलिए नहीं है कि शरीर को इसकी

---

१. महात्मा गाधी, वॉल्यूम ७ (१९५२), पृ० ३८९
२. हरिजन, १५-१०-'२५, पृ० ३३५

आवश्यकता है; भारत के सदर्भ मे इसका और भी अधिक महत्व है। ऐसी सैद्धांतिक अथवा पुस्तकीय शिक्षा भारत की दशा को देखते हुए पूरी तरह निरुपयोगी है, जिसको प्राप्त करने के बाद भी छात्र इस योग्य न बन सके कि अपने को स्वावलंबी महसूस करे। परम्परागत शिक्षा को प्राप्त करने का ही नतीजा था कि युवक मे अनावश्यक अहं आ जाता था और वह शारीरिक काम को हेय समझता था। यही स्थिति आज भी है। गांधी जी ने इस शिक्षा की जड़ को पकड़ा था। उन्होंने लिखा है:

हमारे बालकों की पढ़ाई ऐसी नही होनी चाहिए, जिससे वह मेहनत का तिरस्कार करने लगें। कोई कारण नहीं कि क्यो एक किसान का बेटा किसी स्कूल में जाने के बाद खेती के मजदूर के रूप में आजकल की तरह निकम्मा बन जाये। यह अफसोस की बात है कि हमारी पाठशालाओं के लडके शारीरिक श्रम को तिरस्कार की दृष्टि से न सही, पर नापसन्दगी की नजर से जरूर देखते हैं।[1]

गाधी जी ने शारीरिक श्रम को इसलिए भी महत्व दिया कि छात्रो मे अनुशासन, नम्रता तथा सहयोग की भावना जागे। किसी एक उद्योग को केन्द्र मानकर शिक्षा देने से इन तीनों गुणों का विकास होता है तथा छात्र उत्पादन करके आत्मनिर्भर होता है। शिक्षा पूरी करने के बाद जब वह जीविका के लिए तैयार होता है तब उसे किसी अनपढ सेठ, या सरकारी दफ्तर का मुंह नहीं देखना पडता। उसे अपने प्रमाण-पत्र को बाजार में बेचने नही फिरना पड़ता।

विनोबा ने शिक्षा तथा उद्योग के सम्बन्ध को समर्थन देने के लिए गांधी जी को एक पत्र लिखा था। उसमें विश्वास तथा सहीपन झलकता है। वह लिखते हैं:

'उद्योग + शिक्षण' यह द्वैती भाषा मुझे पसन्द आती ही नहीं। मैं तो 'उद्योग = शिक्षण' ऐसा अद्वैती समीकरण मानता हूँ। शिक्षण के स्वावलम्बी हो सकने में मुझे तनिक भी शंका नहीं। मुझे ऐसा लगता है कि जिस शिक्षण में स्वावलंबन नहीं, उसे गाँवों की दृष्टि से 'शिक्षण' की संज्ञा ही नहीं दी जा सकती।[2]

ध्यान रखने की बात है कि उद्योग मे शारीरिक श्रम निहित है और विनोबा शिक्षा और उद्योग को अलग करके नही देखते।

---

१. यंग इंडिया, १-९-२१

२. बुनियादी शिक्षा, गांधी : नवजीवन प्रकाशन, पृ० ७०

गाधी जी ने जिसे हृदय की शिक्षा अथवा आत्मा के विकास की शिक्षा कहा है, वह धार्मिक शिक्षा या आध्यात्मिक शिक्षा है। इस शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य बच्चे मे नैतिक गुणो को पोषित करके (यही शब्द कहें, तो उनका विकास करके) उन्हें सद्चरित्र बनाना है। गाधी जी ने धार्मिक शिक्षा पर क्यो जोर दिया? उत्तर स्पष्ट है कि धार्मिक अथवा आध्यात्मिक शिक्षा छात्र के जीवन में प्रवेश करके उसकी अवांछनीय प्रवृत्तियों पर रोक लगाती है और उसकी सद्प्रवृत्तियो को पोषण देती हैं। आज के छात्रो मे जो अनुशासनहीनता, चारित्रिक ह्रास एव अनउत्तरदायित्व पूर्ण अराजकता मिलती है उसका मुख्य कारण नैतिक शिक्षण का न होना है। पर क्या इस *शून्यता के होने का दोष महज छात्रो पर ही चिपकाया जा सकता है?* हमे यह भूलना नहीं होगा कि गाधी जी शिक्षा मे अविधिक (Informal) साधनों को भी उतना ही महत्व देते हैं, जितना सविधिक साधनो को। बच्चो पर माता-पिता, परिवार, समाज तथा अध्यापक का प्रभाव पडता है और वह भी उसके लिए 'पाठ' से कम नही है। वास्तविक स्थिति यह है कि जिस नैतिक खोखलेपन मे सारा समाज और प्रभाव डालने वाली शक्तियाँ तैर रही हैं, उससे अधपका किशोर या युवक वर्ग ऐसी अराजकता *को ही प्राप्त कर सकता है।* फिर, *उससे शिकायत करना अपने को जान-*बूझकर निर्दोषी दिखाना है। खेद की बात तो यह है कि हम स्वतन्त्रता प्राप्ति मे बाद भी उस प्रकार के नैतिक मूल्यो से युक्त आदर्श को छात्रो के समक्ष नही रख सके जिसका अनुकरण वह कर पाते।

इससे पूर्व कि हम गाधी की 'आध्यात्मिक शिक्षा' के अभिप्राय को समझें पहले यह जान लें कि नैतिकता को पुष्ट न करने वाले धर्म को वह धर्म मानते ही नहीं हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दो मे लिखा था: वास्तविक धर्म *और वास्तविक नैतिकता परस्पर अभिन्नरूप से बँधे हुए हैं। धर्म, नैतिकता* के लिए उसी प्रकार है जैसे पानी उस बीज के लिए जो जमीन मे बोया गया है।[1]

हम गाधी जी को परम्परावादी समझने की भूल न करें इसलिए वह धर्म की अपनी मान्यता को और स्पष्ट करते हैं:

वह धर्म जो व्यावहारिक कार्यों को महत्व नही देता, और उनके सुलझाव मे सहायक नही होता, वह धर्म नही है।[2]

१. सेलक्शन फ्रॉम गाधी १९५७, पृ० २५४
२. यंग इंडिया ७-५-'२५, पृ० १६४

नैतिकता को व्यावहारिक होना चाहिए। गांधी जी के अनुसार: 'वास्तविक नैतिकता, लीक को पीटने में नहीं है, बल्कि अपने लिए सच्चे मार्ग को पाने में है तथा उसका निर्भीकता पूर्वक अनुकरण करने में है।'[1]

उपर्युक्त दोनों मान्यताओं का प्रचारक जब शिक्षा में आध्यात्मिक शिक्षण की अनिवार्यता बताता है तब उसका मन्तव्य छिपा नहीं रहता। वह चारित्रिक निर्माण और पूर्ण व्यक्तित्व की प्राप्ति को शिक्षा का मूल उद्देश्य मानता है।

हम इसी अध्याय में लिख आए हैं कि किस प्रकार गांधी जी ने टॉल्स-टाय फार्म के विद्यार्थियों को धार्मिक शिक्षा दी। उस कक्षा में हिन्दू, मुसल-मान, पारसी तथा खोजा धर्म को मानने वाले बच्चे थे। गांधी जी ने इस प्रकार से शिक्षण देने का प्रयत्न किया था कि छात्र अपने-अपने धर्म के बारे में भी जानें और दूसरे धर्म की मूल भावनाओं को समझें। वह अपने धर्म पर श्रद्धा रखे तथा दूसरे धर्म के प्रति सहिष्णुता को अपने में जाग्रत करे। यह लगभग उसी प्रकार का प्रयास था जैसे भिन्न-भिन्न सुरीले वाद्यन्त्रों के वृन्द से कोई कुशल संगीत निर्देशक अच्छी धुन बजवाने के लिए प्रयत्न-शील हो। गांधी जी के इस प्रयास के स्वस्थ परिणामों का वर्णन भी हम कर चुके हैं।

गांधी जी ने भारत को अच्छी तरह समझा था, इसीलिए उन्होंने एक बार लिखा: 'भारत निरीश्वरवादी कभी नहीं होगा। इस भूमि पर नास्तिकता पनप नहीं सकती।'[2]

अतः यह आवश्यक है कि विभिन्न धर्मों के मानने वालों को इस भारत में ऐसी धार्मिक शिक्षा दी जाए जो सहिष्णुता, प्रेम तथा नैतिकता को विक-सित करे। गांधी जी ने ऐसी धार्मिक शिक्षा का लाभ बताते हुए लिखा है:

अपने सिवा दूसरे धर्मों के इस प्रकार के अध्ययन से सब धर्मों की मौलिक एकता समझ में आ जाएगी और उस सार्वत्रिक और निर्लेप सत्य की भी झाँकी मिल जाएगी जो 'मत-मतान्तरों के धूल-धमा के' से परे हो।'[3]

धार्मिक शिक्षा से छात्र को एक इतर लाभ भी होता है। भारत की

---

१. सलेक्शन्स फ्रॉम गांधी, १९५७, पृ० २५४

२. हिन्द स्वराज्य, १९०८ पृ० १०७

३. नयी तालीम की ओर : गांधी : नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, पृ० ३६

संस्कृति क्योंकि मुख्य रूप से धार्मिक पृष्ठभूमि में विकसित हुई है अतः छात्र को अपनी संस्कृति के मूलस्वभाव का ज्ञान होगा। वैसे भी हमारी संस्कृति समन्वयवादी रही है। उसने धार्मिक सहिष्णुता को ही स्वीकृत नहीं किया है बल्कि बाहर से आई हुई जातियों के ग्रहणीय तत्वों को आत्मसात किया है, उसे अपने में ऐसा मिला लिया है कि दूसरे धर्म का दीखता ही नहीं। गांधीजी छात्र में ऐसी ही धार्मिक सहिष्णुता को विकसित करना चाहते थे। धार्मिक सहिष्णुता के महत्व को बताते हुए मौलाना आज़ाद ने उन खानगी संस्थाओं पर आपत्ति उठाई है जो धार्मिक प्रचार करती तो अवश्य हैं परन्तु उनका दृष्टिकोण संकुचित होता है। 'वह बहुत बार विद्यार्थी को व्यापक और उदार बनाने तथा उसमें सब मनुष्यों के लिए सहिष्णुता की भावना पैदा करने के बदले बिलकुल उलटा ही परिणाम लाता है।' आगे वह धार्मिक शिक्षण का उद्देश्य बताते हुए लिखते हैं : 'सारे धार्मिक शिक्षण का उद्देश्य मनुष्यों को ज्यादा सहिष्णु और ज्यादा उदार विचार वाले बनने का होना चाहिए।' उनका सुझाव है कि खानगी संस्थाओं के बजाय धार्मिक शिक्षण का कार्य संस्कार को लेना चाहिए।[1]

स्पष्ट है कि गांधी जी ने जब शिक्षा के साथ धार्मिक शिक्षा को जोड़ा उस समय उनके सामने एक ही लक्ष्य था—छात्र सहिष्णु, नम्र तथा चरित्रवान बने। उनमें अनुशासन, आत्मसंयम, प्रेम तथा सेवा-भाव जागे जो उनको आगे जाकर राष्ट्र का अच्छा नागरिक बनाए। छात्र सत्य के प्रति श्रद्धा रखे, अहिंसा में विश्वास करे व अधिकार से अधिक सेवा से प्रेरित कर्त्तव्य के प्रति सजग हो, और ऐसे ही कार्यों के लिए सदैव तत्पर रहे।

अतः हम कह सकते हैं कि गांधी जी ने ऐसी शिक्षा पर जोर दिया जो मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करती है ज्ञान पिपासा, शारीरिक स्वास्थ्य एवं आध्यात्मिक सौष्ठव प्राप्त करने की उसकी चाह इस शिक्षा द्वारा छात्र की सर्वांगीण उन्नति होती है। तब वह पूर्णता की तरफ बढ़ता है। न उसकी बुद्धि भूखी रहती है, न शरीर निःशक्त रहता है, न उसकी आत्मिक शक्ति मरती है।

यह स्वीकृत सत्य है कि बीमारी, बीमारी के कारणों को जानने वाला डाक्टर ही रोग का सही निदान पा सकता है और उपकार, या रोग से मुक्ति देने वाली दवा दे सकता है। शिक्षा भी तो एक प्रकार की मुक्ति-

---

१. सच्ची शिक्षा गांधी जी नवजीवन प्रकाशन मन्दिर पृ० १९२

गांधीजी का एक लेख 'समालोचक' (गुजराती) के अक्तूबर १९१६ के अंक मे प्रकाशित हुआ था। उस लेख मे अभिव्यक्त किए गए विचार तात्विक रूप से इतने यथार्थ उद्घाटक हैं कि उनको देने का सम्मोहन विस्मृत नही किया जा सकता। इस लेख में गांधीजी की शिक्षा की मूल समस्या को पकड़ते हैं।

'हम पर कुछ अंग्रेजो ने यह आरोप लगाया है कि हम नकल करने-वाले लोग हैं, यह निरा अर्थरहित नहीं है। उनमे से एक ने तो हमें सभ्यता के स्याही सोख कागज की अद्भुत उपमा दी है। जैसे स्याही-सोख कागज का काम अधिक स्याही को चूस लेने का होता है, वैसे ही हम सभ्यता की अतिशयता यानी उसकी बुराई को ही लेने वाले हैं—ऐसा इस लेखक ने माना है। हमें मान लेना चाहिए कि किसी हद तक हमारी यही हालत हो गई है।'

गांधीजी इस लेख में रूस, दक्षिणी अफ्रीका तथा जापान का उदाहरण देते हैं। जापान मे से कुछ व्यक्ति अंग्रेजी का ऊँचा ज्ञान प्राप्त करके उसे आसान बनाकर जापानी भाषा मे जनता मे प्रसार देते हैं, अतः जनता का एक बड़ा भाग अंग्रेजी पढ़ने के बेकार श्रम से बच जाता है। अन्त मे उन्होंने भारत की वास्तविक स्थिति बताई है :

'हिन्दुस्तान की कम से कम ८५ फीसदी आबादी का धन्धा खेती है। १० फीसदी का धन्धा कारीगरी है, जिसमे ज्यादातर बुनाई का कार्य करने वाले हैं। बाकी ५ फीसदी पढ़े-लिखे राजनीतिज्ञ, वकील, डाक्टर वगैरा लोग हैं। यह आखिरी वर्ग अगर सचमुच लोगों की सेवा करना चाहे, तो उसे ९५ फीसदी आदमियों के धन्धों की कुछ न कुछ जानकारी हासिल करनी ही चाहिए। ९५ फीसदी लोगो का यह फर्ज माना जाना चाहिए कि उनके माँ-बाप जो धन्धा करते हैं, उसका ज्ञान वह प्राप्त करें। अगर यह ख्याल सही हो, तो हमारे स्कूलों मे इन दो धन्धो की (कृषि और कारीगरी) जानकारी बचपन से ही कराई जाने की सहूलियत होनी चाहिए।'

और इसलिए गांधीजी स्कूलो का जमघट शहरों मे नही बनाना चाहते। उनका सुझाव है:

खेती और बुनाई वगैरा का सुन्दर ज्ञान लेने लायक हालत पैदा करने के लिए हमारे तमाम स्कूल गाँवों और शहरो के घनी बस्ती वाले हिस्सो मे न होकर ऐसी जगह होने चाहिएं, जहां बड़े-बड़े खेत तैयार किये जा

सकें और शिक्षा लगभग खुली हवा में दी जा सके।[1]

गांधीजी एक योग्य वैद्य थे और उन्होंने परम्परित शिक्षा की तह में बैठे उन घातक कीटाणुओं को जान लिया था जो भारत के वासियों की जीवन-शक्ति को जहरबाद फोड़े की तरह मवाद से गजगजा रही थी, यह हमें स्वीकार कर लेना चाहिए। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद भी हम उस बढ़े हुए फोड़े का उपचार नहीं कर सके हैं। यह भी हमें स्वीकार कर लेना चाहिए। हमारी शिक्षा-पद्धति अब भी शिखंडी-स्वभावी, पुस्तकीय तथा अरचनात्मक है यह भी हमें मान लेना चाहिए। गांधीजी ने १६२६ में 'बड़ौदा में शिक्षा' शीर्षक जो टिप्पणी लिखी थी उसका अन्तिम अंश आज भी हमारी उच्च शिक्षा तथा प्राथमिक शिक्षा पर सही उतर रहा है, हमें इसे भी शुद्ध आत्मा से स्वीकार कर लेना चाहिए—अगर वास्तव में हम में सत्य स्वीकार करने की निर्भीकता एवं ईमानदारी शेष है तो। उन्होंने कहा था :

'ऊंची शिक्षा हमें अपने देश में ही विदेशी बना देती है और प्राथमिक शिक्षा का बाद के जीवन में कोई उपयोग न होने के कारण वह बेकार हो जाती है। इस शिक्षा में न कोई नयापन है और न स्वाभाविकता। नवीनता न हो तो भी काम चल सकता है—लेकिन वह 'पुरानी' जनता की भूख मिटाने वाली पुरानी शिक्षा भी तो हो!'[2]

लेकिन जब हम इस असंतोषपूर्ण भंगिमा में वर्तमान शिक्षा-दशा की ओर संकेत कर रहे हैं, उस समय हमारी दृष्टि उन नगण्य उपलब्धियों की तरफ है, जो शिक्षा पर व्यय की जाने वाली राशि के अनुपात में नहीं के बराबर हैं। हमने गांधीजी के शिक्षा-कार्यक्रम को बहुत अंशों में अपना लिया है। हमने प्राथमिक शिक्षा को गांधीजी की बुनियादी शिक्षा के अनुसार रूप भी दे दिया है, फिर भी अपेक्षित परिणाम—सांख्यकी अंकों के अनुसार नहीं, यथार्थ स्थिति के अनुसार—क्यों नहीं प्राप्त हुए हैं, इसके कारणों को भी जानना आवश्यक है। ऊंची शिक्षा की बात करना तो और भी असंतोष से भरेगी, क्योंकि उसमें रचनात्मक कार्यक्रम की कतई गुंजाइश नहीं रखी गई है। यह पहले भी कोरी पुस्तकीय थी, आज भी सूचनाओं का खजाना मात्र है। और हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि गांधीजी

---

१. शिक्षा की समस्या : गांधीजी : नवजीवन प्रकाशन मंदिर, पृ० १०७
२. शिक्षा की समस्या : गांधीजी : नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, पृ० ४६

रचनात्मक कार्यक्रम सिर्फ कागजी निधि रह जाते हैं यदि उन्हें पूरा करने वाले ईमानदार, परिश्रमी, कर्तव्यपरायण तथा अपने उत्तरदायित्व को समझकर उसमें अपनी सम्पूर्ण क्षमता नहीं लगाते है।

अध्यापक—

शिक्षा का कार्य-क्रम व उद्देश्य कितने ही श्रेष्ठ हों, यदि उनको यथार्थ में बदलने वाला अध्यापक वर्ग उसके प्रति आस्थावान तथाकृत-सकल्प नहीं है तो परिणाम शून्य होगा। इसलिये शिक्षक, शिक्षा अधिकारी एवं शिक्षा-विभाग इन तीनों पर ही किसी भी शिक्षा योजना की सफलता निर्भर करती है। वर्तमान दशा पर विचार करने से पूर्व हम यह देखना चाहेंगे कि गांधी जी ने अध्यापक से क्या चाहा और उनके अनुसार आदर्श अध्यापक कैसा हो सकता है। उन्होने अपनी आत्मकथा मे लिखा है: 'मैंने हमेशा से महसूस किया है कि छात्र के लिए उसकी असली पाठ्य-पुस्तक उसका शिक्षक है।'[1]

गांधीजी की 'शिक्षा' में आध्यात्मिक शिक्षा भी सम्मिलित है; अतः अध्यापक को ऐसा आदर्श अध्यापक होना चाहिए जिसका चरित्र साफ और जीवन अनुकरणीय हो। आध्यात्मिक प्रशिक्षण हृदय अथवा आत्मा के माध्यम से ही दिया जा सकता है। शुद्ध आत्मा ही छात्र में चारित्रिक सौष्ठव का विकास कर सकती है। अतः गांधीजी कहते हैं, "अध्यापक को अपनी 'पी'ज़ तथा 'क्यूज़' (अर्थात् व्यावहारिक जीवन) को हर समय रखना होता था, चाहे वह बच्चों के बीच मे हो या न हो।"[2] उनके अनुसार कायर अध्यापक अपने छात्रों को निर्भीक बनाने मे कभी सफल नहीं होगा, और आत्मसंयम की ओर से अजनबी अध्यापक अपने छात्रों को आत्म संयम के महत्व को कभी नहीं सिखा सकता।[3]

इस दृष्टि से अध्यापक को छात्रों के लिए 'उदाहरण-पाठ' (object lesson) स्वरूप बनना चाहिये।

गांधी जी की शिक्षा मे उद्योग-शिक्षा है। उद्योग के कारण इसमे शिक्षक की स्थिति ऐसी नहीं है कि घंटा बजा, शिक्षक ने आकर पढ़ाना शुरू किया, घंटा समाप्त हुआ, शिक्षक बस्ता छोड़ गया। यहाँ शिक्षक को

१. सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी वॉल्यूम, २, पृ० ५०२
२. वही „ पृ० ५०१
३. वही „ पृ० ५०१

निरन्तर छात्र के साथ रहना होता है उसे स्वयं कार्य करना पड़ता है और छात्रों से कार्य कराना पड़ता है। अतः यह जरूरी है कि शिक्षक में इतनी व्यावहारिकता तथा बच्चों को समझने की क्षमता होनी चाहिये कि वह उनको प्रेरित करता रहे। अतः 'शिक्षक के हृदय में विद्यार्थियों के लिये प्रेम और उत्साह भरा हुआ होगा तो यह सहवास बहुत सरल, रसमय और परस्पर विकास साधक हो जायगा। ऐसा शिक्षक शिक्षा के साथ-साथ निरंतर विद्यार्थी भी बना रहता है।'[1]

गांधीजी शिक्षा को यज्ञ की संज्ञा देते हैं। वह एक तरफ तो यह कहते हैं कि शिक्षक की कीमत वेतन से न आंकी जाय, दूसरी तरफ शिक्षक को भी यह सलाह देते हैं कि 'वेतन को गौण समझकर शिक्षा को ही मुख्य समझे।' अतः उन्होंने शिक्षकों को सलाह दी: 'शिक्षक गुजारे को भूलकर शिक्षा देने के अपने फर्ज ही याद रखें, तो ही स्कूलों में नई जान आयेगी और स्कूल सचमुच राष्ट्रीय बनेंगे तो ही राष्ट्रीय हलचल में उनका उपयोग होगा।'[2]

शिक्षक का व्यक्तित्व तथा चरित्र इस प्रकार का होना चाहिये कि छात्र तो छात्र उसके माता-पिता एवं अभिभावक भी उससे प्रभावित हो जायें। यह तभी हो सकता है जब शिक्षक अपने अध्यापन कार्य को कार्य न समझकर उसके साथ धार्मिक आस्था जोड़े। इसीलिए काका कालेलकर शिक्षण को पेशा न मानने के लिये कहते हैं।' अध्यापक यदि विद्यार्थियों के लिये चुम्बक की तरह हो जायेगा, और अपने अध्यापन धर्म को अपनी सारी सामर्थ्य तथा योग्यता के साथ निभाएगा तो उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी बढ़ेगी और बच्चों के मां-बाप उसके कार्य में उसको सहयोग देंगे।

प्रस्तुत अध्याय में अब तक गांधी जी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों की महत्ता तथा विशेष रूप में भारत की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि उनके शिक्षा कार्य-क्रम की उपयोगिता पर विचार किया है। हमारी मान्यता है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद कैसी भी परिस्थितियां बदल गई हों पर गांधीजी द्वारा प्रेषित कार्य-क्रम की मूल भावनाएँ अब भी उतना ही महत्व रखती हैं, जितना उस समय रखती थीं जब गांधीजी का मुख्य उद्देश्य इन राष्ट्रीय शालाओं, विद्यापीठों और आश्रमों के माध्यम से ऐसे

---

१. बुनियादी शिक्षा गांधीजी नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, पृ० ५५
२. वही, पृ० १२५
३. वही, पृ० २८३

सत्याग्रहियों को तैयार करना था, जो स्वराज्य की प्राप्ति मे निर्भीक अहिंसक सेनानी की भूमिका निभाए। उन्होंने जिस आत्मसंयम, परिश्रम तथा कष्ट सहिष्णुता व चारित्रिक शुद्धता को वास्तविक लक्ष्य मानकर, गाँव-गाँव मे देश भक्ति और सेवा भाव जाग्रत करने का कार्य इन शालाओं द्वारा करना चाहा था, उसकी आज जरूरत नही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। बल्कि इसके विपरीत हमें ऐसी शालाओं की आवश्यकता आज भी महसूस होती है जब कि राष्ट्र का नैतिक ह्रास अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका है। सारे वातावरण मे हमें वह प्रवृत्तियाँ ज्यादा शक्तिशाली हुई मिल रही हैं जिनको वास्तव मे गाधीजी ने पदच्युत कर, या उनको निःशक्त कर, उनकी जगह सद्वृत्तियों को शासक बनाना चाहा था। किसी भी वर्ग को दोष देना, समस्या से पलायन करना होगा। आवश्यकता तो उस प्रयास की है जिसकी पहली शर्त थी ईमानदारी—अपने प्रति, अपने कार्य के प्रति वृहद उद्देश्य के प्रति।

गांधीजी ने पहले बुनियादी शिक्षा (नयी तालीम) पर हीअधिक जोर दिया था, परन्तु उसके बाद उन्होने शिक्षा मे अपने कार्यक्रम को और विस्तार दिया था, जिसमें पूर्व बुनियादी शिक्षा, बुनियादी शिक्षा, उत्तर बुनियादी शिक्षा तथा प्रौढ शिक्षा के स्तर विभाजन है। विस्तार में न जाकर हम इनका परिचय संक्षेप में देंगे। पूर्व बुनियादी शिक्षा गाधी जी ने इस को बड़े व्यापक रूप मे लिया है। गांधीजी की मान्यता है कि बच्चे के गर्भ मे आते ही, उसकी परोक्ष शिक्षा आरम्भ हो जाती है। यह सही है कि आकृति के तथा कुछ संस्कारों को वह माता-पिता से नैसर्गिक रूप में प्राप्त करता है, परन्तु माँ की मानसिक अवस्था उनके चरित्र का प्रभाव भी गर्भावस्था मे उस पर पड़ता है। अतः गर्भावस्था की अवस्था में माँ को विचार तथा शरीर से स्वस्थ रहना चाहिए। जन्म के बाद लगभग ढाई वर्ष तक बच्चा सबसे अधिक माँ के सम्पर्क मे रहता है। यह आयु उसकी पृष्ठभूमि तैयार करती है। अतः माँ का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व होता है। जो माताएँ प्रारम्भ से ही अपने निजी स्वार्थों अथवा परेशानी से बचने के लिए बच्चों को अपना दूध नही पिलाती हैं, या आया पर छोड़ती हैं, वह एक तरह से बच्चे के साथ अन्याय करती हैं।

ढाई साल से चार वर्ष की अवस्था मे बच्चा और अधिक विकास पाता है उसमे बाहरी वस्तुओं से सम्बन्ध स्थापित करने की स्वाभाविक इच्छा जागृत होती है। बाह्य वातावरण का शुद्ध तथा अच्छा होना आवश्यक है।

इसी प्रकार घर शांत तथा कलह विहीन होना चाहिए। बच्चे के ग्राहक अनुकरण तत्पर मस्तिष्क पर इसका प्रभाव पड़ता है। मॉनटेसरी तथा फ्रबिल के किन्डर गर्टन की अपनी विधियाँ हैं, लेकिन उनके उपकरण तथा विधियों का जन्म दूसरे वातावरण में हुआ है। अतः गांधीजी के अनुसार बच्चे की सफाई, उसके स्वास्थ्य आदि का ध्यान अधिक रखना चाहिए। शाला में बच्चे को परिवार का-सा वातावरण उपलब्ध कराना चाहिए। उसमें अच्छी आदतें पड़ें इस तरफ से सजग रहना चाहिए।

चार से सात वर्ष की आयु बच्चे की कोमल आयु होती है। वह काफी कुछ समझने लगता है। रुचि शोधन तथा इन्द्रियज्ञान प्राप्त करवाना शाला का लक्ष्य होना चाहिये। इस आयु में बच्चा खेल के माध्यम से ही सीख सकता है। अतः उसको निरिक्षण शक्ति को प्रखर करना चाहिए। तथा अनुकरण के लिए सद्वातावरण देना चाहिये। बालक में सफाई का ज्ञान करवाया जाना चाहिए। वह अपने को सही रूप से सम्भाले तथा आरम्भिक शिष्टाचार को समझे। ध्यान रहे कि शिष्टाचार भारतीय होना चाहिए। इस प्रकार के प्रयोग सेवाग्राम के किये गए। इस अवस्था में साधारण विषयों का ज्ञान होना चाहिए। बच्चों में स्वावलम्बन आए। यह भी ध्यान रखने की बात है कि गांधी जी आकृति खिचवाने के बाद अक्षर लिखवाने के पक्ष में थे ताकि बच्चे का हाथ पहले लिखने के लिए सध जाए।[1]

बुनियादी शिक्षा : गांधी जी ने इसे शिक्षा का 'पहला काल' कहा है। लड़के-लड़कियों को साथ पढ़ना चाहिए। उनको शारीरिक कार्य में लगाना चाहिए। उनकी रुचि के अनुसार उन्हें कार्य दिया जाना चाहिए। कार्य लेते समय कारण की जानकारी करवाई जाए। अक्षर ज्ञान सुन्दर लेखन कला का अंग समझकर पहले बच्चों को भूमिति की आकृतियाँ खींचना सिखाया जाय। जब उसकी उंगली सध जाए तब वर्णमाला सिखाई जाय। बच्चे को पहले पढ़ना सिखाया जाए और दूसरे विषयों का ज्ञान देने के लिए रोचक कहानी कथन विधि अपनायी जाय। बच्चों को उनकी मातृभाषा द्वारा ही सिखाया जाना चाहिए। परन्तु राष्ट्रभाषा के लिए हिन्दी-उर्दू सिखाई जाय। इस आयु में धार्मिक शिक्षा आवश्यक है, परन्तु इसका माध्यम स्वयं शिक्षक होगा उसका आचरण तथा चारित्र होगा।

---

१. देखिए शिक्षा सिद्धान्त : गुप्ता एवं माथुर, पृ० १६६-१७१

उत्तर बुनियादी काल: यह नौ वर्ष से सोलह वर्ष के बीच में सिखाई जानी चाहिए। गांधी जी का सारा जोर इस आयु की शिक्षा पर था। लड़के-लड़कियों की शिक्षा साथ हो परन्तु अध्यापक एक सतर्क माँ की दृष्टि उन पर रखे। हिन्दू बालक को संस्कृत तथा मुसलमान को अरबी की शिक्षा दी जाए। शारीरिक कार्य रहे। और बच्चों को उनके पैतृक धंधे को देखते हुए उसी के माध्यम से शिक्षा दी जाए। यहाँ उपयोगी तथा बिक्री के योग्य उद्योग को अपनाया जाय ताकि कम से कम शिक्षक का वेतन निकले और शाला स्वावलम्बी बनें। इसी उद्योग को केन्द्रमान कर इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र, गणित (व्यावहारिक, वनस्पतिशास्त्र भूमिति, बीज-गणित आदि सिखाई जाय। लड़कियां सीना-पिरोना, कढ़ाई तथा गृहस्थी के कार्य को जाने। धार्मिक शिक्षा इस स्वभाव की हो कि बच्चे अपने धर्म मे श्रद्धा तथा विश्वास रखे पर साथ ही साथ दूसरे धर्मों के प्रति भी उनमे आदर भाव जागे। उनमे अपनत्व तथा सहयोग की भावना जागे तथा चारित्रिक रूप से सत्यवादी एव अहिंसा मे विश्वास करने वाले हों। श्रम का महत्व समझें एवं श्रम के प्रकार मे भेद-भाव नही रखें। शालाओं की इमारत खर्चीली और भव्य न होकर सादी हों। बच्चे कूपमंडूक न होकर अपने गाँव वह सारे बाह्य वातावरण का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करें। शिक्षक परीक्षा को आधुनिक प्रणाली से उनके कार्य को न जाँच कर उनकी प्रगति का सही मूल्याकन कर निरीक्षक यह देखें कि बच्चो की प्रगति वास्तविक तथा रुचि प्रेरित है अथवा आरोप या दबाव जनित है। अध्यापक को सहृदय, प्रेम सम्पन्न एव पिता तुल्य होना चाहिये। यह कोशिश होनी चाहिए कि वह बच्चो का हृदय जीतो, उनको किसी प्रकार का शारीरिक दंड न दें। जरूरत हो तो उपवास जैसा साधन अपनाये, जिससे बच्चे मे पश्चाताप जागे और वह हृदय से अपनी त्रुटि को स्वीकार करे।

उत्तर बुनियादी शिक्षा: इसे प्रौढ शिक्षा से भी जाना जाता है। १९४४ मे जेल से छूटने के बाद गांधी जी ने इस शिक्षा पर जोर दिया। यह स्वीकार कर लिया गया है कि इस आयु तक आकर युवक किसी न किसी धंधे मे जाकर जीवन व्यापन करने लगा है। अगर ऐसा नही भी हुआ है तो भी उसको उद्योग पर ही आधारिक होना होगा। यहाँ छात्र उद्योग को अपनाएगा, स्वावलम्बी बनेगा (जीविका की दृष्टि से); छात्रा-वास में भी सामाजिकता का स्वस्थ वातावरण रहेगा। सहशिक्षा यहाँ भी मान्य होगी। वास्तव मे बुनियादी शिक्षा में जिस ज्ञान तथा जिन गुणों

को छात्र में पैदा किया गया है उसी को जगाना और श्रेष्ठ नागरिक की भूमिका निभाने के लिए उसे तैयार करना इस आयु की शिक्षा का ध्येय है। प्रमुख बात यह है कि गांधी जी शिक्षा के माध्यम को देशी भाषा में रखना चाहते हैं—अंग्रेजी का त्याग चाहते हैं। जहाँ तक शालाओं अथवा विद्यापीठ का प्रश्न है उनमें मितव्ययिता वह सादगी होनी चाहिए। वातावरण भारतीय हो।

इसके पश्चात् हम उन दो वर्ग की शिक्षा के बारे में संक्षिप्त सूचना भर देना चाहेंगे जिस पर गांधी जी के जोर दिया है :

प्रौढ़ शिक्षा : प्रौढ़ उम्र वाले ऐसे व्यक्ति जो परिस्थितिवश अथवा और किसी कारणों से शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके उनको अक्षर ज्ञान, अन्य विषयों का ज्ञान प्राप्त करवाना चाहिए ऐसे व्यक्तियों को भाषण विधि से तथा ऐसी विधियों से सिखाना चाहिए जिससे उनका मनोरंजन भी हो और अपेक्षित ज्ञान भी उन्हें प्राप्त हो। मूल मत्र-समुदाय रूप में शिक्षा मिले। जैसे रामलीला, लोक संगीत, त्योहारों तथा चित्रपट द्वारा शिक्षा। गांधी जी ने प्रौढ़ देहातवासियों के लिए उन्हीं की रुचि तथा उन्हीं के लिए उपयोगी विषय-ज्ञान की सलाह दी है।[1]

नारी शिक्षा : नारियों की तरफ भी गांधीजी का बहुत ध्यान था। वह पुरुष तथा स्त्री में भेद नहीं करना चाहते थे। बल्कि संयम तथा चरित्र के लिहाज से वह उनमें अधिक क्षमता पाते थे। अतः एक आदर्श नारी की निर्भीकता, सद्चरित्रता, उसका धार्मिक ज्ञान इस नारी शिक्षा का उद्देश्य था। गांधीजी ने बम्बई के भगिनी-समाज के दूसरे वार्षिक सम्मेलन में १६१८ में अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए कहा :

"स्त्री और पुरुष एक दरजे के हैं परन्तु एक नहीं, उनकी अनोखी जोड़ी है। वे एक दूसरे की कमी पूरी करने वाले हैं और दोनों एक दूसरे का सहारा है। यहाँ तक कि एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता।... इसलिए

---

१. देहातियों को देहाती गणित, देहाती भूगोल और देहाती इतिहास पढ़ाइये। उनके रोज के उपयोग का भाषा विज्ञान पढ़ना-लिखना, पत्र लिखना वगैरह दीजिये। ऐसे ज्ञान को वो निधि समझकर अपनाएँगे और आगे बढ़ेंगे। ऐसी किताबों से उन्हें क्या लाभ हो सकता है जो, उन्हें रोजमर्रा के काम का कोई ज्ञान न दें। हरिजन सेवक २२-६'४०

स्त्री शिक्षा की योजना बनाने वाले को यह बात हमेशा याद रखनी चाहिए। दम्पति के बाहरी कामों मे पुरुष सर्वोपरि है। बाहरी कामों का विशेष ज्ञान उसके लिए जरूरी है। भीतरी कामो में स्त्री की प्रधानता है। इसलिए गृह व्यवस्था, बच्चों की देखभाल, उनकी शिक्षा वगैरा के बारे मे स्त्री को विशेष ज्ञान होना चाहिए।[1]

गाधीजी का विश्वास था की स्त्रियों को भी मातृभाषा द्वारा ही ऊँची शिक्षा दी जानी चाहिए, ताकि वह अपने गृह-ससार को सोने का बना दे तथा अपनी अन्य बहिनो पर अपने सद्चरित्र से प्रभाव डालें। गांधी जी ने इस आशय का भी विचार व्यक्त किया है कि 'गीत, रामायण, महाभारत और भागवत' का ज्ञान यदि स्त्रियो को दिया जाये तो पर्याप्त होगा।[2]

शिक्षा किसी भी राष्ट्र की जीव शक्ति है। वह ऐसा प्रकाश-स्तम्भ है, जो अँधेरे मे गंतव्य की तरफ बढ़ने वाले राष्ट्रीय जलपोत को दिशा दिखाता है और उससे भटककर अपनी शक्ति को व्यय करने से रोकता है। लेकिन यह भी सत्य है कि किसी भी राष्ट्र की शिक्षा तभी इस महत्वपूर्ण कार्य को कर सकती है जब वह राष्ट्र के आन्तरिक स्वभाव, उसकी पृष्ठभूमि, उसकी आवश्यकता से जन्मी हो। वह तभी अपनी जीव शक्ति को राष्ट्र की धमनियो मे प्रवाहित कर सकती है जब इस प्रकार की हो, जिसमें राष्ट्र को पौष्टिकता प्रदान करने वाले गुण हों। गांधी जी की शिक्षा-योजना मे ऐसे सारे तत्व प्राप्त होते हैं। उन्होंने अपनी शिक्षा योजना को एक तरफ तो भारत की अस्सी फीसदी गाँव की जनता के लिए नितान्त भारतीय बनाकर उपस्थित किया, दूसरी तरफ अग्रेजी शासन द्वारा प्रचारित तथा प्रयोग मे लाई जाने वाली शिक्षा के समानान्तर, दूसरी ऐसी शिक्षा प्रस्तुत की जो विश्वविद्यालयों के लिए अनुकरणीय मानी जा सकती है। उन्होने राष्ट्रीय चरित्र के उत्थान के लिए जिस उद्योग केन्द्रित एवं नैतिकता पोषक शिक्षा योजना का समर्थन किया वह उस परम्परागत शिक्षा से शत-शत बहतर है जिसने सिर्फ दफ्तरों के क्लर्क तथा गुलाम अफसरों को तैयार करना अपना उद्देश्य माना। यह हमारा दुर्भाग्य है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के इतने वर्ष बाद भी हम शिक्षा मे आमूल-चूल परिवर्तन नही ला सके और जो कुछ आया

---

१. सच्ची शिक्षा गाधी जी नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, पृ० १२६

२. वही, पृ० १६२

भी वह भी औपचारिक तथा ऊपरी रहकर रह गया। अतः आवश्यकता है कि हम उनकी योजना के मूल आधार को समझें जिसने शिक्षा को 'योजना प्रचार मात्र नहीं माना था बल्कि उसको जीवन से जोड़कर, जीवन में परिवर्तन लाने के लिए राष्ट्र के सामने रखा था।

विकल्प

गांधीजी के व्यक्तित्व, उनके दर्शन तथा उनकी शिक्षा-विधि पर विचार करने के पश्चात हम इस स्थिति में हैं कि उनकी विचारधारा का मूल्यांकन कर सकें। प्रायः इस प्रश्न का सामना करना पड़ता है कि क्या गांधी जी के विचार अथवा उनके द्वारा प्रतिपादित तथा प्रचारित सिद्धांत व्यावहारिक है ? क्या उन्होंने जिन आदर्शों को पूर्णत्व (Absoluteness) से विशेषित करके मनुष्य के सामने रखा वह साधारण व्यक्तियों द्वारा अपनाये जा सकते हैं।

इस संदर्भ में हमें दो तथ्यों का ध्यान रखना होगा :

(१) सिद्धान्त हमेशा अतिवेष्टित होते हैं, क्योंकि वह ऐसे आदर्शों को निहित किए हुए होते हैं, जिन तक पहुँचना होता हो। वह मानवीय विकास की सम्भावना होते हैं, न कि वस्तुस्थिति होते हैं। आदर्श, वस्तुस्थिति से हमेशा दूर होता है, यद्यपि उसी से उद्भूत होता है। उदाहरण के तौर पर हम विश्व-शांति अथवा प्रजातंत्र या ऐसे ही किसी आदर्श को ले सकते हैं। यह मानव की शाश्वत आकांक्षा के द्योतक हैं। लेकिन क्या हम यह कह सकते हैं कि विश्व शांति के आदर्श को हम प्राप्त कर चुके हैं ? क्या उन राष्ट्रों ने, जिन्होंने प्रजातन्त्र को स्वीकार किया है, उसके अनुसार पूर्ण उपलब्धियों को प्राप्त कर लिया है ? समाजवाद जिसकी कि मूल अभीप्सा समानता है, किसी भी राष्ट्र ने प्राप्त कर ली है ? कम या ज्यादा अनुपात में विषमता अब भी हैं, और भविष्य में भी रहेंगी, लेकिन वही राष्ट्र सफल माना जाएगा, जहाँ कम से कम विषमता होगी और उस राष्ट्र की अधिकांश या अधिकांश से भी बहुत ज्यादा जनता समता को प्राप्त कर रही होगी।

(२) प्रत्यय तत्वतः शाश्वत होते हैं, लेकिन परिस्थितियाँ परिवर्तित होकर उनके उस रूप को—जोकि एक 'वाद' अथवा 'विधि' के रूप में

स्वीकार कर लिया गया होता है— अनुपयुक्त सिद्ध करती हैं।

हम अमरीका के एक समय के 'सेक्रेटरी ऑफ स्टेट' और अनुभवी राजनीतिज्ञ डलेस की भविष्यवाणी का भी जिक्र करना चाहेंगे। उन्होंने १९५७ में यह घोषणा की थी कि किसी दिन, कोई भविष्य की रूस सरकार स्टालिन की नीतियों तथा सिद्धान्तों को रूढ़ (Obsolete) घोषित करेगी, जैसाकि स्टालिन ने मार्क्स तथा एंगेल्स का बहुत कुछ 'रूढ़' घोषित किया।[1] और बाद में विश्व ने देखा कि रूस के एक प्रधान मंत्री ख्रुश्चेव ने स्टालिन को पूर्णतया अनुपयुक्त घोषित किया।

हमारा मन्तव्य मात्र इतना है कि हम इस सत्य को समझें कि परिवर्तित परिस्थितियाँ अपनी मांग का दबाव डालती हैं, और एक समय में किसी सीमा तक उपयुक्त मानी जाने वाली नीतियाँ अथवा सिद्धान्त अनौचित्य पूर्ण लगने लगते हैं। अमरीका में भी नीग्रो समस्या ऐसी ही रही है। एक समय था कि लिंकन को सैनिकों का उपयोग करना पड़ा था। इसी समस्या के हल में एक समय आया कि मार्टिन लूथर किंग जैसे अहिंसक क्रान्तिकारी के विरुद्ध अमरीकी शासन अपनी सैनिक शक्ति का प्रयोग नहीं कर सका। अमरीका के राष्ट्रपति कैनेडी ने इसे सिद्धांतः स्वीकार कर लिया था। लेकिन उनकी हत्या हमें दूसरे सत्य की तरफ़ ले जाती है— हर परिवर्तन तत्काल सम्भव नहीं होता। उसके विरुद्ध में रूढ़ वातावरण और उस पर अन्ध-विश्वास रखने वाले पूर्व-पीढ़ी के लोग शक्तिशाली रोक के रूप में रहते हैं। क्या यह सत्य नहीं है कि औपनिवेशिकता को 'लाभप्रद' घोषित करने वाले ब्रिटिश साम्राज्यवाद को अपनी इस नीति को छोड़ना पड़ा और भारत को स्वतन्त्र करना पड़ा ? क्या दूसरा सत्य यह नहीं है कि महात्मा गांधी के सामने अहिंसात्मक क्रान्ति के सिवाय दूसरा सार्थक तरीका नहीं था ? और यदि यही स्वतन्त्रता रक्तमय क्रान्ति से प्राप्त होती तो क्या भारत प्रजातन्त्र को स्वीकार कर पाता ? इससे जुड़ा हुआ एक प्रश्न और है जो आज भी उतना ही ज्वलंत है, कि क्या भारतवर्ष में रूस या चीन का साम्यवाद सम्भव था, या है ? कि क्या भारत के प्रजातन्त्र हूबहू अमरीका या इंग्लैंड का प्रजातन्त्र हो सकता है ?

गांधी विचारधारा अथवा दर्शन को दोहरी पृष्ठभूमि में देखने की आवश्यकता है। उनके कार्य-क्षेत्र की सीमा यद्यपि दक्षिणी अफ्रीका तथा

१. देखिए war or peace john Foster Dulles. p. 14

भारतवर्ष रहा परन्तु, क्योंकि उनका संघर्ष दोनों जगह औपनिवेशिक शक्ति के विरुद्ध था, अतः उसका व्यापक महत्व है। यह भी ध्यान रखना होगा कि ब्रिटिश साम्राज्य उस समय बड़ी शक्तियों में से एक था जिसका सम्बन्ध पश्चिम के शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों में से एक हिस्सेदार था। परिणामस्वरूप भारत भी उसकी नीतियों का शिकार रहा। अर्थात्, परोक्ष-अपरोक्ष रूप में मित्र-राष्ट्रों की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का वाहक भारतवर्ष को बनना पड़ा। गांधी जी की विचारधारा को, इस दृष्टि से, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का हल भी खोजना पड़ा। इस सत्य को भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि लगभग सौ वर्ष की आम्लदासता ने भारतवर्ष की मौलिकता को पूरी तरह से नष्ट करके अपने रंग में रंग दिया था – यही नहीं, बल्कि रहन-सहन, मानसिकता तथा चरित्र को भी पूर्ण रूप पश्चिमीकर दिया था। इस स्थिति में गांधी जी ने जिस दर्शन को भारतीयों के लिए प्रस्तुत किया वह एक तरह से पश्चिम के लोगों के लिए भी उतना ही उपयुक्त तथा संगत लगता है।

हम फिर अपने मुख्य प्रश्न पर आ जाएं—क्या गांधी जी के विचार अथवा उनके द्वारा प्रतिपादित अथवा प्रचारित सिद्धान्त व्यावहारिक हैं?

गांधी जी ने मनुष्य को बुनियाद रूप में स्वीकार किया। मनुष्य से ही परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्व बनता है। मनुष्य इकाई है। इसका छोटा समूह परिवार है। इससे बड़ा समूह समाज है। इससे बड़ा समूह राष्ट्र है। और मनुष्य का वृहद्तम समूह विश्व है। परिवर्तन अगर अपेक्षित तथा अनिवार्य है, तो इकाई से शुरू होना चाहिये। पहली इकाई अगर आर्थिक है तो आगे के जीरो भी कीमती हो सकते हैं, लेकिन अगर इकाई ही जीरो है, फिर दूसरे जीरो भी निरर्थी रहेंगे। इसका अर्थ यह नहीं है कि सिर्फ इकाई के सुधर जाने से काम समाप्त हो जाता है। तारीफ तो तब है कि इकाई के बाद जीरो न आकर अंक-दो-अंक आगे आएँ। मनुष्य जो बुनियाद है, वह सुधरे। मनुष्य जो कच्ची ईंट है, वह पक्कर लाल हो। और जब सारी ईंटें पक्की होंगी, तब उसके द्वारा बना, चाहे कमरा हो या महल, पक्का और दृढ़ होगा। चिरजीवी तथा स्थायी होगा। अतः सुधार मनुष्य में आना चाहिए। पर इस सुधार की आवश्यकता क्यों है? और यह सुधार आखिर किन मूल्यों की स्वीकृति चाहता है?

पश्चिमी सभ्यता व्यापारिक होने से ही अपने धर्म से कट गई। कट नहीं गई, सो अलग-थलग हो गई। ऐसा मान लिया गया कि धर्म का सम्बन्ध व्यावहारिक जीवन से नहीं है। जाति अथवा धर्म से ईसाई होना स्वीकार

किया गया, लेकिन जीवन मानों में ईसाई धर्म के अनुकूल होना जरूरी नहीं रहा। ईसा की अहिंसा, करुणा, प्रेम, सत्यवादिता, कष्ट सहिष्णुता तथा भौतिकता के प्रति विरक्ति, को व्यावहारिक जीवन से हटाकर बाइबिल की जिल्दों, तथा गिरजाघर की प्रार्थनाओं में सीमित कर दिया। यानी, यह जरूरी नहीं रह गया कि इन्हें मनुष्य अपने चरित्र में उतारे तथा अपने व्यक्तित्व की ऊर्जा का केन्द्र बनाए। ईसा ने कहा—'अगर तुम्हारे एक गाल पर कोई चाँटा मार दे, तो उसकी तरफ दूसरा गाल कर दो।' पर इसे न मानकर यह माना गया कि शक्ति द्वारा शासन करो, विश्वों की मजबूरी से फायदा उठाओ और जरूरत पड़े तो ऐसे विश्वयुद्धों में भाग लो जिनमें लाखहा परिवार—निर्दोष परिवार—तबाह होकर आहें भर रह जाएँ।

ईसा ने कहा, 'ऊँट का सुई के नाके में से निकल जाना सम्भव है, लेकिन अमीर का स्वर्ग पाना सम्भव नहीं है।' पर स्वीकार यह किया गया कि जो जितना अमीर हो सके वही श्रेष्ठ है। ईसा के 'ईश्वर के राज्य' की कल्पना सत्ता-विस्तार, भौतिक ऐश्वर्य तथा सांसारिक भोगविलास ने ले ली। संस्कृति का निकटतम सम्बन्ध दर्शन तथा धर्म से होता है। लेकिन पश्चिमी जगत अपनी ही संस्कृति से विच्छेदित होकर ऐसे मूल्यों को जीवन का साध्य मानने लगा जो विलासी तृष्णाएँ जगाएँ, तथा उन्हीं की संतुष्टि को अंतिम सिद्धि मानें। इसका कारण औद्योगीकरण, मशीन उपासना, वैज्ञानिक उपलब्धियों का सैन्यशक्ति बढ़ाने में उपयोग आदि में था। दूसरी तरफ साम्यवादी राष्ट्रों ने धर्म तथा नैतिकता को खूँटी पर टाँगकर मनुष्य को आर्थिक फुटे से नापना शुरू किया। साफ है कि न तो पश्चिम का मनुष्य कैसी भी आध्यात्मिकता को स्वीकार करने को तैयार था—न अब भी है—और न साम्यवादी देश किसी भी प्रकार की नैतिकता को मनुष्य की आन्तरिक आवश्यकता मानते हैं।

गांधीजी ने इस आत्मघाती अथवा एकांगी स्वीकृति के समानान्तर यह स्थापित किया कि मनुष्य शरीरमात्र नहीं है, उसके पास मस्तिष्क भी है जो ज्ञान-पिपासु रहता है तथा उसके पास हृदय या आत्मा भी है जो उदात्तीकरण माँगती है। यानी मनुष्य की आन्तरिक माँग, भौतिक ही नहीं है, वह ऐसा कुछ भी चाहता है जिससे उसका मस्तिष्क विवेक बली हो तथा आत्मा (हृदय) अपनी शुद्ध अवस्था को उपलब्ध कर ले। पश्चिम का मनुष्य भौतिकता के क्षयकारी प्रभाव से इस हद तक ग्रसित हो चुका

था—और आज भी है—कि उसकी आत्मा जड़ हो गई, और मस्तिष्क इस योग्य नहीं रह गया कि मंगल-अमंगल में, अच्छे-बुरे में तथा सत्य-असत्य में अन्तर जान सके। उसकी हालत उस व्यक्ति जैसी हो गई जो दलदल में फँस गया हो। और उसकी हर कोशिश उसे दलदल में और गहरा धँसाती जाए।

गांधीजी ने इस मूल विकृति को पकड़ा। वह भारतीय थे, अतः उन्हें समाधान की खोज के लिए किसी दूसरी संस्कृति का मुँह नहीं देखना पड़ा। उन्होंने 'सत्य को ईश्वर' कहा। उपनिषदों में सत्य की महिमा का वर्णन वर्तमान से हज़ारों वर्ष पूर्व किया जा चुका था। वेद-शिक्षा देकर आचार्य शिष्यों में अनुशासन उत्पन्न करने के लिए उपदेश देते हैं :

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।···सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्।

गुरु शिष्य को जीवन का आधार बताता है : सत्य बोलना। धर्म करना। ज्ञानोपार्जन से कभी विरत न होना। कभी भी सत्य से दूर नहीं जाना। धर्म पालन से कभी भी नहीं भागना।[1]

गांधीजी ने सत्य, अहिंसा व प्रेम को पूर्ण सत्य माना। इनको जीवन की क्रियाओं का प्रेरक मूल्य स्वीकार किया। यह कहा जाता है कि सामान्य मनुष्य इन पूर्ण सत्यों को—कम से कम आज की परिस्थितियों में—धर्म नहीं बना सकता। अर्थात्, इनके अनुकूल कार्य नहीं कर सकता। प्रश्न बिल्कुल बुनियादी है। क्या मनुष्य में सत्य-जिज्ञासा, अहिंसा-प्रवृत्ति एवं 'पर' से प्रेम जन्मजात रूप में अवस्थित नहीं है? क्या थोड़ी-सी उम्र पाया हुआ बच्चा अनुकूल की खोज नहीं करता? वह अपनी माँ से प्रेम नहीं करता? क्या बड़े होने पर उसके सामने एक सत्य प्रकट नहीं होता कि उसका विकास अपने भाई-बहिनों तथा माता-पिता को कष्ट न देने तथा उनसे प्रेम करने में है? और क्या परस्पर प्रेम किसी भी आन्तरिक संयम अथवा इच्छा त्याग के बगैर हो जाता है? यह स्थिति इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि यह तीन प्रवृत्तियाँ उसके अन्तर की मूल आवश्यकताएँ हैं। लेकिन होता यह है कि जैसे-जैसे वह समाज के सम्पर्क में आता है, उसकी स्वार्थ भावना प्रबल होती जाती है। वह अपने हित को सर्वोपरि

---

१. वैदिक साहित्य : पं० रामगोविन्द त्रिवेदी (द्वितीय संस्करण), पृष्ठ २३६

मानकर समाज से चाहते तो लगता है, पर उसे कुछ देने को तैयार नहीं होता। वह अपने असली 'स्व' से टूट जाता है और आकर्षणों को अपना साथी बना लेता है। और यह आकर्षण, जो उसे अस्थाई सुख देते हैं, उसके वास्तविक अन्तःकरण को लुज करके, उसको अन्धा करके, अपने रथ मे दौड़ाते हैं। यह मित्र होकर आते हैं, बल्कि सेवक होकर आते हैं, और फिर निर्मम शासक बन जाते हैं - जैसे; अंग्रेज भारत में व्यापारिक बनकर अनुकम्पा-कृपा माँगने आए और अन्त मे भारत के शोषक शासक बन गए। यही नहीं, बल्कि निरंकुश दलनकर्ता बन गए।

गाधीजी ने जब आत्मानुशासन को आवश्यक माना तो उसका सीधा मतलब था कि मनुष्य अपने पर से अपना शासन न खोए। वह पशु की तरह न बन जाए। 'व्यक्ति केवल जैविक आवश्यकताओं का प्राणी नहीं। वह पशु जीवन को अपनाकर सुखी नहीं रह सकता।'[1] वैसे यह मानना गलत है कि पशुओं में 'प्रेम-भावना' नहीं होती। चींटियों का जीवन भी व्यवस्था मय है। तारीफ यह है कि हम पशुओं को सिखा-पढ़ाकर उनसे मनुष्य जैसा काम ले लेते हैं, लेकिन खुद अपने को पशुवत् बनाना चाहते हैं। ऐसा नहीं है कि हम आत्मानुशासन को कतई नहीं रखते हैं; कि यह हमारे लिए असम्भव-प्राप्ति है। लेकिन हम इसको आंशिक रूप में पाना चाहते हैं— अपने लिए, अपनों के लिए। इसकी वजह से हम संकीर्ण रह जाते हैं। हम में पूर्ण आत्मबल नही जागता। हमारी संकल्प शक्ति अधकचरी रहती है— क्योंकि किसी व्यक्तित्व-विकासी उद्देश्य से नहीं जुड़ती। अपनी पूर्णता को मनुष्य तभी प्राप्त कर सकता है जब वह अपने से हटे। इन्द्रियों की शक्ति, भोग से बढ़ती नहीं है, बल्कि क्षीण होती है। लेकिन अन्तरात्मा की आवश्यकताओं को जितना पूरा किया जाय, वह शक्तिशाली होती जाती है। इसीलिए गांधीजी ने आत्मा को— अन्तःकरण को-शक्तिशाली बनाने की बात कही। यह असीमित प्रेम चाहती है। यह प्रथक सेवाभाव से अपने उज्ज्वल रूप को प्राप्त कर सकती है। विश्व के प्राणियों में अपने को देखना, उन्हें अपना ही अंश पाना, एकमात्र ऐसा शुभ सत्य है, जिसका विकल्प नहीं है। यही वह दृष्टि है, जो हममे अभय उत्पन्न करती है। पश्चात्, हम अपने को अजेय शक्ति से ओत-प्रोत पाते हैं।

गांधी जी ने आत्म-अनुशासन द्वारा जिस आत्म बल को भारतवासियों

---

१. नीतिशास्त्र : शान्ति जोशी (द्वितीय संस्करण), पृ० ४१७

में पैदा करना चाहा, वह परिस्थिति की अनिवार्यता थी। इतिहास साक्षी है कि भारतवासियों में जैसी अपूर्व निर्भयता तथा आत्म-शक्ति व नैतिक शुचिता स्वतन्त्रता के लिए किए जाने वाले आन्दोलनों के बीच आई, उसकी छाया भी बाद में नहीं रही। तो क्या यह निष्कर्ष निकाला जाए कि गांधी जी के सिद्धांतों में, अथवा उनकी मान्यता में कहीं दोष था ?

हम यहाँ स्वामी विवेकानन्द के विश्लेषण को प्रस्तुत करेंगे, जिसमें उन्होंने यह साबित किया कि भारत, मात्र धर्म के माध्यम से ही अपनी खोई हुई शक्ति को पा सकता है। उन्होंने कहा :

पिछले एक हजार वर्ष से हम हर उस चीज को रख रहे थे जो कि जाति के रूप में हमें कमजोर बना रही थी। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि उस काल के अन्तराल में राष्ट्रीय जीवन का सिर्फ एक यही साध्य था—अपने को कमजोरतम से कमजोरतम कैसे बनायें जब तक कि हम वास्तव में केंचुए नहीं बन गए, उस हरेक के पैर में रेंगने वाले, जो भी हमारे ऊपर पैर रखने का साहस कर ले।[1]

यह भारतवासियों की यथार्थ स्थिति थी, जिनकी, विदेशियों के अत्याचार सहते-सहते रीढ़ की हड्डी टूट गई थी। स्वामी विवेकानन्द जानते थे कि (यूरोप में राजनैतिक विचार राष्ट्रीय एकता को बनाते हैं। एशिया में, धार्मिक आदर्श राष्ट्रीय एकता को बनाते हैं) अतः उन्होंने जोर इसी तथ्य पर दिया। उन्होंने भविष्य के भारत के संदर्भ में कहा, 'इसलिए, धर्म में एकता भारत के भविष्य के लिए पहली शर्त के रूप में नितांत आवश्यक है। इस देश की पूरी लम्बाई-चौड़ाई में एक धर्म की स्वीकृति अवश्य होनी चाहिए।'[2] उन्होंने इसे भारत जीवन की 'key-note' कहा।

अतः स्पष्ट है कि गांधी जी ने अगर भारतवासियों को आध्यात्मिकता के माध्यम से निर्भीक, राष्ट्र-प्रिय, तथा संघर्ष में जुझारू सत्याग्रही बनाने का प्रयास किया, तो वह भारतीय स्वभाव के अनुकूल थे। यही नहीं, वह ऐसा करने में मनुष्य के उस सद्-पक्ष को शक्तिशाली बना रहे थे, जिसे भौतिकतावादी पाश्चात्य सभ्यता ने सुप्त तथा जड़ कर दिया था। और अगर हम मात्र यह पा रहे हैं, कि स्वर भारतवासी पुनः पूर्व स्थिति को

---

१. Swami Vivekanand's works, P. 238

२. वही, पृ० २८७

पहुँच गए हैं—यानी आत्मिक भटकाव तथा नैतिक ह्रास तक—तो इसका कारण गांधीजी के सिद्धांतों में नहीं खोजना होगा, हमें अपनी उस मानसिक विकृति में खोजना होगा जो अब भी पाश्चात्य के भौतिकवादी आदर्शों को श्रेष्ठ मान रही है, तथा उनका अनुकरण किए जा रही है।

गांधीजी ने जिस चारित्रिक श्रेष्ठता को एक-एक व्यक्ति के लिए आवश्यक तथा अनिवार्य माना था, उसके लिए जिस वातावरण की आवश्यकता थी उसे हम राष्ट्रीय जीवन में पोषित कर ही नहीं सके। और उसका परिणाम भी हमारे सामने प्रत्यक्ष है। राष्ट्र जीवन में नैतिकता नाम की हल्की हवा तक नहीं है। हर व्यक्ति घुटन को महसूस करते हुए भी अनैतिकता को बढ़ाने में योग दे रहा है।

हमें यह स्वीकार करना होगा कि चाहे भारतीय हो, अथवा किसी भी राष्ट्र का कोई एक भी व्यक्ति, जब तक वह अपने को सही करने का उत्तरदायित्व खुद नहीं लेता है, तब तक न उसके द्वारा निर्मित समाज सही हो सकता है, न राष्ट्र, और न व्यापक लक्ष्य में विश्व। आत्म शुद्धि वैयक्तिकता स्वभावी होते हुए भी अंत में सम्बन्धित समष्टि से है क्योंकि समष्टि के माध्यम से ही व्यक्ति अपने आध्यात्मिक, अथवा उदात्त व्यक्तित्व को प्राप्त कर सकता है। ऐसा होना होगा। अगर नैतिक शून्यता में अब भी मानव समूह भटकेगा, या राष्ट्र सही मार्ग खोजने का प्रयत्न करेंगे, तो उन्हें वृहद शून्य ही मिलेगा। समाज की रचना का आधार ईर्ष्या, द्वेष तथा कटुता नहीं है, बन्धुत्व है। राष्ट्र की श्रेष्ठता का माप सैनिक शक्ति नहीं हो सकती, उसकी वह सद्भावना होगी जिसे वह दूसरे राष्ट्रों के प्रति रखेगा।

अतः आवश्यकता है कि मनुष्य अपने को पहचाने, राष्ट्र यह पहचानें कि वह कौन से मूल्यों को स्वीकार करें तथा उन्हें आचरण का अंग बनाएँ कि उनका अस्तित्व भी सुरक्षित रहे, तथा अन्य राष्ट्रों का भी अस्तित्व सुरक्षित रहे। आगे हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि क्या गांधी जी के आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक विचार व्यवहारिकता की कसौटी पर सही उतर सकते हैं। हमने गांधी दर्शन को वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए, सही विकल्प माना है, अतः इसकी पुष्टि भी होनी ही चाहिये।

गांधी जी के सम्बंध में हमारी धारणा बन गई है कि उन्होंने मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की उपेक्षा की है, और यह समझ लिया है कि

उन्हीं की तरह सब एक धोती को पहन और लपेटकर जीवन बिता देंगे कि सब रूखा-सूखा खाकर संतोष कर लेंगे।

उन्होने जब अस्तेय, अपरिग्रह, सर्वोदय तथा ट्रस्टी शिप की व्याख्या की तो सामान्य तौर पर उसमे यह दोष पाया गया कि यह सब 'अति' की मान्यताएँ हैं—कल्पना प्रसूत अधिक हैं, यथार्थ से इनका कम सम्बन्ध है। उदाहरण के लिये अस्तेय की व्याख्या करते हुए उन्होने यहाँ तक कहा कि अपनी आवश्यकता से अधिक— वह भी तात्कालिक आवश्यकता से अधिक रखना स्तेय है, यानी, चोरी है।

हम इस पर यूँ सोच सकते है : मान लिया जाए आवश्यकता से अधिक रखना स्तेय नही हैं। हर मनुष्य को अधिकार है कि वह चाहे जितना रखे जैसी छूट पूँजीवादी व्यवस्था में मनुष्य को है। और यह भी अर्थ-शास्त्र का मान्य सत्य है कि आवश्यकताएँ अनन्त होती है। इनकी कोई सीमा नही होती। इतने पर ही बात समाप्त नही होती। संचय अर्थात् परिग्रह अपनी अति में मनुष्य की मानसिक व्याधि बन जाता है। वह इसलिए संचय नहीं करता, कि उससे सुरक्षा नहीं करता, कि उससे सुरक्षा प्राप्त होती है, बल्कि उनमें होड की भावना भी पैदा हो जाती है।[1] इस दशा मे वह इसलिए धन के पीछे दौड़ता है, कि कहीं वह उन कुबेरो से कमन रह जाये, जो उसको बराबरी करना चाहते हैं। उसे यह चिन्ता नही रहती कि वह अपने इस संचय तथा स्वामित्व से कितनो को उस धन के उपयोग से वंचित कर रहा है। कुछ की सम्पन्नता और ऐश की इमारत हजारों की असुविधा पर बनती है। फिर जिस आर्थिक विषमता को हम सैद्धांतिक रूप से अमानवीय तथा निकृष्ट घोषित करते हैं, वह दूर कैसे होगी ? आर्थिक समानता अधिकतम अंश में कैसे सामाजिक यथार्थ बनेगी ?

गाधी जी ने इसलिए पहले आत्मानुशासन की बात की। यानी उन आवश्यकताओं पर नियंत्रण रखने के लिए कहा, जो वास्तव मे आवश्यकता नही होती, बल्कि विलासकामी तथा ऐश्वर्य कामी होती हैं। अगर उन्होने अस्तेय, तथा अपरिग्रह के द्वारा मनुष्य मे यह चेतना तथा उत्तरदायित्व जाग्रत करने की कोशिश की कि वह अपनी ही आवश्यकताओं को आवश्यकता न समझे, यह भी समझे कि दूसरो की भी आवश्यकताएँ हैं, और वह

---

१. The conquest of Happiness; Bertrand Russel (5th Edition) P. 52

भी कम से कम इतना तो चाहते हैं कि सम्मानित जीवन स्तर को प्राप्त करके जी सकें, तो गांधी जी ग़लत और अव्यवहारिक कहाँ हैं ? मार्क्स ने भी तो सरप्लस श्रम' की बात की जिसको पूँजीपति एक तरह से चुराता है। अगर कोई ज़मींदार किसान की मेहनत का नब्बे प्रतिशत उसको देता है (!) तो क्या यह ऐसा स्तेय नहीं है जो नितान्त अमानवीय तथा न्यायसंगत वितरण के प्रतिकूल है। और हमें भूलना नहीं चाहिए कि यद्यपि अस्तेय तथा अपरिग्रह सार्वभौमिक महत्व रखते हैं, परन्तु गांधी जी की दृष्टि मे भारतवर्ष का किसान था। वह, जो मेहनतकश था, उत्पादक था, लेकिन जिसको एक समय की रोटी प्राप्त करना मुश्किल हो जाता था। कुछ ब्रिटिश शासन के चाटुकारों, उद्योगपतियों, ज़मींदारों, जागीरों तथा राजाओं-महाराजाओं को छोड़कर भारत का साधारण मनुष्य दयनीय गरीबी को भुगत रहा था। गांधी जी यदि अस्तेय तथा अपरिग्रह की अति युक्त परिभाषा न रखते तो इनके अधिकारों की बात कैसे उठ पाती ? आर्थिक समानता को पश्चिम के देशों ने भी स्वीकार कर रखा है, पर क्या वहाँ समानता मिलती है ? बल्कि विषमता अपनी चरम पर है। इसीलिये गांधी जी ने अस्तेय तथा अपरिग्रह को 'व्रत' रूप में स्वीकार किया। अगर वह ऐसा न करते तो उनका आधार उलट जाता। अगर अस्तेय तथा अपरिग्रह की चेतना व्यक्ति मे जाग जाये तो विषमता स्वयं कम हो जाये। गांधी जी ने इन दोनो प्रवृत्तियों को (स्तेय तथा परिग्रह को) असत्य माना है। अतः उन्होंने सुझाव भी दिया कि अगर धनिक वर्ग इन व्रतों को नहीं अपनाता है। तो ऐसे वातावरण बनाना चाहिए, जिससे वह बाध्य हो जाये यदि धरने, असहयोग अथवा सत्याग्रह करने की आवश्यकता हो तो उसे भी प्रयोग मे लाया जाना चाहिए। कोशिश करनी चाहिए कि धनिकवर्ग इस सत्य को समझे कि उसके पास जो कुछ भी है—उसकी आवश्यकताओं को छोड़ कर— वह सब समाज का है, वह सिर्फ संरक्षक है।

विषमता को दूर करने के लिए अहिंसा पुष्ट तरीका यही हो सकता है, कि 'सम्पन्न' के हृदय में अवस्थित प्रेम को जाग्रत किया जाए। मिल-मालिक समझे कि उसके यहाँ के मजदूर उसके खरीदे हुए दास नहीं हैं, बल्कि वे सहयोगी हैं।

गांधीजी जहाँ सम्पन्न व्यक्ति के हृदय परिवर्तन पर ज़ोर देते हैं, वह इस सम्भावना को हटाते नहीं हैं कि हो सकता है यह वर्ग स्वेच्छा से ऐसा न करे। लेकिन क्योंकि उसका ऐसा न करना अन्याय है, अतः अन्याय को

सहना भी गांधीजी के दर्शन में नहीं है। उनके विरुद्ध अहिंसक सत्याग्रह किया जा सकता है।

गांधीजी की आर्थिक समानता की मान्यता बहुत ठोस तथा यथार्थ है। उन्होंने आध्यात्मिक अथवा आत्मिक विकास को भी आर्थिक अवसरों की प्राप्ति पर निर्भर किया है। उन्होंने कहा : 'सब को समान अवसर मिलना चाहिए। इस अवसर को यदि दे दिया जाए, तो हर व्यक्ति में आत्मिक विकास की समान सम्भावना है।'[1]

यद्यपि गांधी जी मानते हैं कि सच्ची आर्थिक नीति नैतिकता सम्मत ही होगी क्योंकि उसका आधार सामाजिक न्याय होगा, और वह सब के कल्याण के लिए होगी — दुर्बल से दुर्बल के कल्याण के लिए,[2] पर इसके साथ उनकी आर्थिक समस्याओं तक की पहुँच बिल्कुल यथार्थ पृष्ठभूमि पर होती है। भारत के किसान के प्रति उनकी सहानुभूति ध्यातव्य है :

वह अन्न उगाते हैं और भूखे जाते हैं। वह दूध उत्पादित करते हैं और उनके बच्चों को बिना उसके जाना (रहना) होता है। यह शर्मनाक है। हरएक को संतुलित भोजन, मिलना चाहिए, एक अच्छा घर रहने के लिए, बच्चों के लिए शिक्षा की सुविधाएँ तथा उपयुक्त चिकित्सा मिलनी चाहिए।[3]

गांधीजी की समानता की भावना उपर्युक्त प्रकार की है। जो लोग यह धारणाएँ बनाए हैं कि वह मशीनीकरण के खिलाफ थे, उनको यह समझना होगा कि गांधीजी ने ऐसा क्यों कहा। वह जानते थे कि भारत में मानव-शक्ति अधिक है, और यदि इनको काम पर न लगाकर मशीनीकरण को उद्देश्य बनाया, तो देश में बेकारी की समस्या भयंकर रूप धारण कर लेगी। अतः उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा : 'हमें जितना मानव-श्रम प्राप्त है, उस पूरे का उपयोग करना चाहिए, इससे पूर्व कि हम मशीनी शक्ति के प्रयोग का विचार मस्तिष्क में लाएँ।'[4]

---

१. हरिजन १७-११-'४६, पृ० ४०४
२. वही, ९-१०-'३७, पृ० २९२
३. वही, १३-३-'४६, पृ० ६३
४. वही, २५-८-४६, पृ० २८१

इसीलिए गांधी जी ने विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था, सहकारिता तथा कुटीर उद्योग पर ज़ोर दिया। जब तक योजना का उद्देश्य गाँवों का स्वावलम्बन नहीं होता तब तक भारत की अर्थव्यवस्था त्रुटिपूर्ण ही रहेगी।

अतः कहा जा सकता है कि गांधी जी के आर्थिक विचार रेशे-रेशे से उपयुक्त हैं तथा यथार्थ हैं और पूर्णतया व्यवहारिक हैं।

समाज व्यक्तियों का समूहन है—उद्देश्यहीन, विवेकहीन समूहन नहीं; सचेतन, प्रयोजन युक्त समूहन। मानव के विकास की कथा उसके *परस्पर सह-भाव तथा सामूहिक प्रयत्नों की कथा है। समाज* की रचना मनुष्य की उस सहजात प्रवृत्ति की ओर संकेत करती है जिसे हम यूथकामी (Gregarious) प्रवृत्ति या वृत्ति कहते हैं। मनुष्य एकाकी तथा स्वकेन्द्रित रह नहीं सकता। उसको अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये समाज चाहिए। जैसे-जैसे समाज की सरचना जटिल होती जा रही है, वैसे-वैसे उसकी परस्पर निर्भरता बढती जा रही है। और यह जटिलता उसको यह अनुभव *करा रही है कि विकास के क्रम की निरन्तरता को बनाए रखने के लिए* यह आवश्यक है कि अनेकताओं में एकता की खोज की जाए। विभिन्नता तथा विशिष्टता को औचित्यपूर्ण महत्त्व देकर समापवर्तक सम्बन्धों को खोजा जाए।

गांधी जी ने मानव समाज के विकास की निरन्तरता को *आध्यात्मिकता के प्रकटीकरण (आविर्भाव) के तुल्य माना है।*[1]

जब वह मानव विकास को 'आध्यात्मिकता' जैसे शब्द से स्पष्ट करना चाहते हैं, तब वह समाज की सरचना की उन अभिरुचियों, प्रवृत्तियों एवं भावनाओं की ओर संकेत करते हैं जो उसके विधान में योग देती हैं।

हम यहाँ समाज सरचना अथवा समूहन के बुनियादी प्रश्न को उठाना चाहेंगे। पश्चिम के समाजशास्त्रियों ने *सामान्य इच्छा (General will) अथवा सामूहिक मन* (Group mind) को लेकर काफी चर्चा-परिचर्चा की है। उनके अनुसार मनुष्य चाहे छोटे समाज की रचना करे अथवा बड़े रूप में समूहन करे, उसको ऐसा करने के लिए उसके 'स्वार्थ' उसे प्रेरित करते हैं। व्यक्ति अपनी विशिष्ट वैयक्तिकता को पूरी तरह रखते हुए समूहन खोजता है। इस मान्यता के कारण उन्हें बड़े *अजीब-अजीब से उल्टे*

निष्कर्ष निकालने पड़े। मसलन समूह उनमें आवेश, भावुकता अथवा ऐसी ही विवेकहीन मानसिक स्थिति बनाता है। वास्तव में यह पहुँच ही गलत है क्योंकि आगे यह भी मानना पड़ता है कि एक समुदाय, या समूह या लघु समाज के सदस्य अपने संगठन के प्रति अतिरिक्त मोह के कारण दूसरे प्रकार के संगठनों के विरुद्ध ईर्ष्या, द्वेष तथा प्रतियोगिता की भावना पोषित कर लेते हैं। अर्थात संगठन संघर्ष की स्थिति में आ जाता है। पाश्चात्य विचार धारा में—आधुनिक विचार धारा में—बुनियादी गलती प्राप्त होती है। वह दो तथ्यों को मनोवैज्ञानिक सत्य मानकर चलती है :

(१) मनुष्य बिना स्वार्थ के कुछ नहीं करता। अर्थात् समूहन प्रक्रिया में मनुष्य का स्वार्थ ही प्रमुख है।

(२) संघर्ष अनिवार्य है, क्योंकि शक्तिशाली ही उत्तरजीवी रह सकता है।

यह पूरी तरह से उस मानसिक बनावट की स्थापनाएँ हैं जो समाज रचना को भौतिक उद्देश्यों की पूर्ति का माध्यम मात्र मानता है। लेकिन यह दृष्टिकोण अपने आप ही पराजित होता दीखता है मगर हम यह मान कर चलते हैं कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, कि उसमें पशु की भाँति अन्ध-प्रवृत्तियों एवं विवेकरहित आवेगों से आचरण करने की तथा उसी तरह से जीवन-निर्वाह करने की; या समूहन करने की प्रवृत्ति नहीं होती।

व्यक्ति के स्वार्थ की कोई सीमा नहीं है। एक व्यक्ति का व्यक्तित्व दूसरे व्यक्ति के व्यक्तित्व से भिन्न होता है। फिर जब वह समूहन के लिए प्रेरित होता है—जहाँ उसकी बहुत-सी निजी इच्छाओं को अतृप्त रहना होता है—तब निश्चय रूप में उसका 'उदात्त अन्तः' ही क्रियाशील रहता है। अर्थात् वह अपने शुद्ध स्वार्थ से हटकर बड़े हित के लिए—वह चाहे उसका हो, परन्तु उस हित का स्वभाव पशुआकांक्षी से भिन्न होगा—समूह कामी और वह भी अपने पूर्ण विवेक के साथ। भिन्नता में अभिन्नता अथवा अनेकता में एक्य भाव की स्थापना तभी सम्भव है जब मनुष्य अपने बहुत से निजी स्वार्थों का स्वेच्छा से त्याग करे। समूहन को, या समाज को संरचित करने वाली प्रवृत्ति मनुष्य के नितांत स्वार्थ से प्रेरित नहीं होनी, बल्कि उसके अन्तः का वह प्रकाश जो 'पर' के माध्यम से अपने अरेष्ठतया

अच्छे स्व (Better self) को प्राप्त करना चाहता है, उससे प्रेरित होती है।[1] अच्छे स्व (Better self), अथवा उदात्त स्व (subimed self) मतलब से है. मनुष्य के आन्तरिक नैतिक-स्व से। इसका मूल स्वर है प्रेम, किसीको कष्ट न देना, तथा दूसरों को अपना ही अंश समझना। अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि समूहन चाहे वह छोटा हो, या बड़ा, प्रवृत्तिमूलक हो, व्यवसायमूलक हो, या उद्देश्यमूलक हो—वी प्रेरक प्रवृत्तियाँ या वृत्तियाँ हैं : प्रेम, सहयोग, पर-हित यानी स्वार्थ की अपेक्षा बड़ा हित। तब हमारे समक्ष समाज संरचना के पोषक दो भिन्न मनोवैज्ञानिक तथ्य आते हैं :

(१) मनुष्य के अन्दर की सामाजिक प्रवृत्ति, उसका निःआवेगी विवेक व उसके अन्तस् का वह पक्षांश जो पर-प्रेम से निर्मित है, जो स्वभाव में नैतिक है, उसे समूहन के लिए प्रेरित करता है। समूहन प्रक्रिया में मनुष्य का स्वार्थ प्रमुख नहीं है, उसका पुरुषार्थ प्रमुख है। अतः समूहन के माध्यम से वह अपने स्वार्थ से दूर होकर, समझौते, सहयोग तथा त्याग के द्वारा अपने अन्त: अवस्थित प्रेम को व्यवहार में लाता है। वह अपनी दैहिक माँगों से हटकर आत्मिक माँगों की सम्पूर्ति करता है। वह अपने अन्तःबल को बढ़ाता है—आत्मिक बल को। क्योंकि वह जानता है कि वह सिर्फ शरीर नहीं है, इन्द्रियाँ नहीं हैं, बल्कि मस्तिष्क है तथा अन्तःकरण (आत्मा) भी है। और वही नहीं दूसरे भी यही हैं। अतः वह दूसरों के माध्यम से आत्मिक शक्ति को भी पौष्टिकता देता चलता है।

(ii) उपर्युक्त स्थिति को स्वीकार करते ही पाश्चात्य समाजशास्त्रियों की दूसरी मान्यता सारहीन लगने लगती है। जब विभिन्न संस्थाएँ ऐसे सदस्यों द्वारा निर्मित होंगी, जो सहयोगी तथा सहकारी अभिवृत्तियों से परिचालित हैं तब इन संस्थाओं का 'सामूहिक मन' भी स्वभावतः उदार ही होगा। अतः ऐसी संस्थाओं के बीच में संघर्ष की सम्भावना नहीं रहेगी। वहाँ प्रश्न 'शक्तिशाली के उत्तरजीवी' रहने का नहीं होगा, बल्कि इनमें परस्पर स्वस्थ समझ (Understanding) होगी।

हम पहले ही कह चुके हैं कि गांधी जी ने किन्हीं अव्यावहारिक मान्यताओं का प्रतिपादन नहीं किया; हाँ, जिन्हें हम संकुचित दायरे में निभा

---

१. तुलना करिए : Nothing is so dull as to encased in self, nothing so exhilrating as to have attention and energy directed, outwards; The Conqest of happiness, Bertrand Russel (5th Edition P 109

रहे थे, या निभाने हैं, उनकी सीमा को विस्तृत करने का प्रयास किया है। आखिर हम विवाह अथवा मृत्यु के अवसर पर प्रेम अथवा सहानुभूति से प्रेरित होकर दूसरों के सुख-दुख में सम्मिलित होते ही हैं। क्या हमारे इस भाग लेने मे कोई भौतिक लाभ होता है? एक संस्था दूसरी संस्था से समय पड़ने पर सहायता लेती ही है, क्या उस समय भी शुद्ध स्वार्थ की भावना प्रमुख होती है? और आज जब कि समाज इस तरह संगठित है कि एक प्रकार का हित, बहुत से प्रकार के हितों से किसी न किसी रूप मे सम्बन्धित है, तब यह कल्पना करना भी त्रुटिपूर्ण है कि कोई मडल (Association), संस्था (Institution) अथवा संघ (Union) मात्र अपने उद्देश्यों और स्वार्थों से चिपटा रह कर अपनी खिचड़ी अलग पकाते हुए जीवित रह सकता है। एक को कठिन परिस्थितियो मे अन्य संस्थाओ तथा संघो को समर्थन तथा बल देना ही होगा, तभी वह संस्था उनकी कठिनाई के अवसर पर समर्थन तथा सहयोग देगी। यह भूलना नही चाहिए कि समाज शब्द का आयाम बहुत विशाल है और यह 'मानव समाज' तक पहुँचता है। अतः हर छोटा उद्देश्य के लिए सहयोगी सिद्ध होना चाहिए।

समाजशास्त्री जब विभिन्न संस्कृतियों के प्रभाव के आधार पर भिन्न-भिन्न राष्ट्रो मे अलग-अलग राष्ट्रीय विशेषता पाते हैं, तो वह ऐसी विश्व-संस्कृति को भी मान्यता देते हैं, जो पूरे मानव समाज के संगठन की सम्भावना को बल देती है। यह सम्भावना जीवित यथार्थ तभी बन सकती है जब हम प्रतियोगिता अथवा संघर्ष की मान्यता को न मानकर सहृदयता तथा स्वस्थ मित्रता को प्रमुखता दें।

गाधी जी व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को स्थिर करते हुए लिखते हैं—

'मनुष्य उतना ही आत्मनिर्भर है, जितना परस्पर-निर्भर। जब निर्भरता समाज को अच्छी व्यवस्था मे रखने मे लिए आवश्यक हो जाती है, तब वह निर्भरता नही रहती, बल्कि सहकारिता बन जाती है। सह-कार्य मे मधुरता होती हैं जो सह-कार्य करते हैं उनमे कोई कमजोर या मजबूत नहीं होता। हर एक दूसरे के बराबर होता है। निर्भरता में असहायता का अहसास होता है।' आगे वह इसी विचार को सम्मिलित परिवार पर घटित करते हैं, जिसके सदस्यो मे मेरे-तेरे की भावना नही होती। सब सदस्य सहकारी हैं। इस उदाहरण को आधार बनाकर वह आगे बढते हैं :

इसी तरह जब हम एक समाज, एक राष्ट्र या सारी मानवता को एक

परिवार की तरह ग्रहण करते हैं, तब सब आदमी सह-कार्य कर्ता बन जाते हैं।[1]

वर्तमान जीवन में व्याप्त सुखहीनता तथा आनन्द की अनुपस्थिति का कारण मुख्य रूप से मनुष्य के अ-सांगिक व्यक्तित्व में हैं। सुखहीनता तभी उत्पन्न होती है जब व्यक्ति अपने को बिलयर्ड की गेंद की तरह बना लेता है, जो दूसरी गेंदों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखती, सिवाय टकराने भर के। स्वस्थ विचारक बर्ट्रेण्ड रसेल ने इस उदाहरण को देते हुए मनुष्य की सुखहीनता के कारण पर सार्थक विचार अभिव्यक्त किये है :

All unhappiness depend upon some kind of disintegration or lack of integration; there is disintegration within the self through lack of co-ordination between the coscious and unconscious mind; there is lack of integration between the self and society, Where the two are not knit together by the force of objective interests and affection.[2]

गांधी जी ने भी ऐसे ही सांगिक व्यक्तित्व वाले व्यक्ति को संयोजित करने का प्रयास किया जो अपनी इकाई रूप में स्वस्थ हो तथा स्वस्थ समाज का रचनाकार हो।

गांधीजी के सामाजिक विचारों की अनुपयुक्तता तथा औचित्य के विवेचन के पश्चात हम उन दो विषयों पर आ रहे हैं, जिनका सीधा प्रभाव वर्तमान जीवन पर पड़ रहा है : राजनीति तथा धर्म। एक का प्रभुत्व मानव को भय, आशंका तथा अनिश्चय से ग्रसित किये हुए है, दूसरे की अनुपस्थिति विश्व को आधारहीन बनाये हुए है। मानसिक अनास्था तथा नास्तिकता से क्षुब्ध शताब्दी दो महायुद्धों की विभीषिका सहने के बाद ऐसी विमूढ़ता तथा दिशाभ्रम को अनुभव कर रही है कि किसी भी प्रकार का आश्वासन उसे मात्र शाब्दिक तथा प्रपंचपूर्ण लगता है। संदेह तथा अविश्वास उसके रिक्त मानस की पूंजी बन गये हैं। इस स्थिति ने सबसे अधिक बेचैन संसार के युवकवर्ग को किया है, जिसमें उत्कट ध्वंसात्मक विद्रोह जाग उठा है। यह विद्रोह दो रूपों में प्रकट हो रहा है—एक तरफ

---

१. द आइडॉलॉजी ऑफ द चर्खा, (१९५१) पृ० ८६-८८
२. The Conqust of Happiness : Bertrand Russel (5th ..ition) P. 247

युवा वर्ग वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विरुद्ध आक्रामकता को अपना रहा है, दूसरी तरफ भौतिकता की अति से घबराया हुआ, आत्मा की शान्ति की तलाश में, नशीली वस्तुओं का सेवन करके आत्म-हत्या के तरीके ढूंढ रहा है। क्या यह सत्य नहीं है कि विश्व इस समय ऐसे दो-राहे पर खड़ा है कि एक रास्ते पर जाने से पौराणिक प्रलय के घटित होने की सम्भावना है, दूसरे मार्ग पर जाने से सभ्यता तथा संस्कृति का अपूर्व स्वर्ण-युग आ सकता है ?

गांधी जी ने राजनीति को नैतिकता तथा धर्म से पृथक करके नहीं देखना चाहा। उन्होंने सत्य, अहिंसा तथा प्रेम को अपने सम्पूर्ण दर्शन का आधार बनाया। राजनीति मे इन तीनों मूल्यों के प्रयोग को उन्होंने अनिवार्य बताया। सत्य के द्वारा न्याय तक पहुँचा जा सकता है। अन्याय असत्य है। इसको सहना कायरता है। इसके विरुद्ध खड़ा होना धर्म है। *परन्तु इसका प्रतिरोध वही कर सकता है जिसने अपने आत्मबल को प्रखर* किया हो। राजनीति मे कार्य करने का उसी को अधिकार है, जो सच्चरित्र हो। जो प्रेम तथा सेवा के भाव से निर्देशित हो। बड़े से बड़े उद्देश्य को तभी प्राप्त किया जा सकता है जब अन्त मे सद्भावना हो। हिंसा से, आतंक से, धोखे से प्राप्त की हुई स्वतन्त्रता अस्थायी होती है। हिंसा से, आतंक से, धोखे से कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों का विश्वासपात्र नहीं बन सकता। *विश्वशान्ति, जो कि युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है* तभी सम्भव है जब हर राष्ट्र अहिंसा को स्वीकार करे, उसके लिए निजी स्वार्थों तथा हितों का त्याग करे और ऐसा वातावरण तैयार करे जिसमे परस्पर विश्वास, प्रेम तथा समझ बढ़े। गांधी जी ने विश्व राजनीति के सामने यह स्थिति रखी—हिंसा अर्थात् मानव जाति की समाप्ति; अहिंसा, अर्थात् सर्वराष्ट्रों का उदय। 'कल का विश्व ऐसा समाज होगा, अवश्य होगा, जिसका *आधार अहिंसा होगी। यह प्रथम नियम है:* इसी में सारे आशीर्वादों का प्रवाहन होगा।' और धर्म ? धर्म का अर्थ है जो धारण करता है, इसकी मूल भावना है—जो सम्बन्धित करे। धर्म मनुष्य को ईश्वर से बाँधता है तथा मनुष्य को मनुष्य से। गांधीजी का धर्म सेवा है—मानवता की सेवा।

गांधीजी ने युग को जो दर्शन दिया, उसका प्रभाव चाहे हमे प्रत्यक्ष रूप में अभी स्पष्ट न दिखाई दे, परन्तु भविष्य *साक्षी होगा* कि भारत ने एक ऐसे महापुरुष को जन्म दिया जिसने केवल अपनी मातृभूमि को ही

स्वराज्य नहीं दिखाया, बल्कि विश्व के समक्ष एक विकल्प प्रस्तुत किया : या वह आत्महत्या की तरफ बढ़ता हुआ विश्व, या वह आत्मबल के तेज से प्रखर रश्मियाँ मुक्त करता हुआ विश्व।

उनके संदेश और उद्देश्य की अनुगूँज अथर्ववेद के इस स्रोत में प्राप्त होती है :

सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्योऽन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

आप सबके बीच से द्वेष को हटाकर मैं सहृदयता और संमस्कृता का प्रसार कर रहा हूँ। जैसे गौ (अघ्न्या) अपने बछड़े से प्रेम करती है, वैसे ही आप लोग परस्पर एक-दूसरे से प्रेम करें।[1] अस्तु।

०

---

१. वैदिक साहित्य : सं० रामगोविन्द त्रिवेदी, पृ० ४७६